अध्याय 1

1

लोकतंत्र में सत्ता की साझेदारी

परिचय

पिछले परिचय में हमने लोकतांत्रिक स्वरूप के बारे में जानकारी प्राप्त किया तथा यह जानने की भी कोशिश कि वैश्विक परिदृश्य में लोकतंत्र का किस प्रकार विकास हुआ ? इस वर्ग के इस अध्याय में यह जानने की कोशिश करेंगे कि सामाजिक विषमता के कारण लोकतंत्र में द्वंद्व में तत्त्व किस प्रकार अंर्तनिहित है? जातीय एवं सांप्रदायिक विविधता लोकतंत्र को किस प्रकार प्रभावित करता है? लिंग भेद के आधार पर लोकतांत्रिक व्यवहार किस प्रकार परिवर्तित होता है।

इस अध्याय में हम यह भी देखेंगे कि किस तरह लोकतंत्र सारी सामाजिक विभिन्नताओं, अंतरों और असमानताओं के बीच सामंजस्य बैठाकर उनका सर्वमान्य समाधान देने की कोशिश करता है । इन्हीं अवधारणाओं को आगे बढ़ाते हुए यह भी जानने की कोशिश करेंगे कि सामाजिक विभिन्नता कैसे अलग–अलग रूप धारण करती है और सामाजिक विभिन्नता और लोकतांत्रिक राजनीति किस प्रकार एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं । हम यह अध्याय के दूसरे पड़ाव पर इस सामाजिक विभाजन और भेदभाव वाली तीन सामाजिक असमानताओं पर गौर करेंगे यथा – जाति, धर्म और लिंग आधारित सामाजिक विषमता । इन तीन पर आधारित विषमताएँ कैसी है और किस प्रकार राजनीति में अभिव्यक्त होती है, इस पर भी हम बारी–बारी से गौर करेंगे।

लोकतंत्र में द्वन्द्ववाद

लोकतंत्र में द्वन्द्ववाद के तत्त्व :– बच्चों ! हमने नवम् वर्ग के अध्याय –2 में देखा है कि लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में लोग ही शासन के केन्द्र बिन्दु होते हैं । लोकतंत्र ऐसी शासन

व्यवस्था है जिसमें लोगों के लिए एवं लोगों के द्वारा ही शासन चलाया जाता है । शासन में लोक प्रतिनिधि लोगों के हित का तथा उनके इच्छा का सर्वोपरी महत्त्व देना चाहते हैं । यही कारण है कि शासन के लोकतांत्रिक व्यवहार समाज में उभरते द्वन्द्व (Conflict) से प्रभावित होता है। इसे अच्छी तरह समझने के लिए निम्नवत् कुछ घटनाओं और मुद्दों पर गौर करेंगे । 1961 में मुंबई में मराठियों की संख्या 34 प्रतिशत थी जो 2001 में बढ़कर 57 प्रतिशत से ऊपर हो गई । यह सही है कि दक्षिण भारत के चेन्नई, बंगलूर और हैदराबाद में विकास के कारण दक्षिण भारतीयों की मुंबई आनेवाले तादात काफी कम हो गई । इसीप्रकार, गुजरात के सूरत, अहमदाबाद, बड़ोदरा आदि के विकसित होने के कारण गुजराती प्रवासियों की संख्या मुंबई में कम है ।

अब काम की तलाश में आनेवाले लोग हिन्दी भाषी है । लेकिन वे मीरा–भायवैर, थाणे, कल्याण ओप नवीं मुंबई जैसे उपनगर में है । टाटा इन्स्टीच्यूट ऑफ सोसल साईसेज (Tata Institute of Social Sciences) ने एक अध्ययन में पाया कि लगभग 49 प्रतिशत प्रवासी लोग उत्पादन कार्य में लगे हुए हैं । दूसरी ओर, अधिक वेतन और सुविधा पानेवाले सफेदपोश कार्यों में मराठियों का वर्चस्व है जो गरीब भैया (उत्तर भारतीय हिन्दी–भाषी लोग विशेषकर बिहार और उत्तर प्रदेश के लोग) लोगों को दूर–दूराते रहते हैं; जबकि यही गरीब भैया, उत्तर भारतीय लोग, मुंबई में छोटे–छोटे रोजगार के जरिए अपना जीवनयापन तो करते ही हैं, वे वहाँ के मूल निवासियों को अलग–अलग तरीकों में अपनी सस्ती सेवाएँ भी उपलब्ध कराते हैं । यदि भारत सभी भारतीयों का देश है, तो मुंबई सभी भारतीयों का एक प्रदेश है । मुंबई में भारत सरकार के कई सार्वजनिक उपक्रम है जिसमें जनता की कमाई का काफी पैसा लगा है । उत्तर प्रदेश तथा बिहार जैसे पिछड़े राज्यों में बैंक में लोगों ने जितनी राशि जमा की है उसका एक चौथाई हिस्सा ही वहाँ ऋण के रूप में दिया जाता है और यही वजह है कि मुंबई आज भारत की ''वित्तीय राजधानी'' है । पिछले दिनों कुछ राजनेतओं ने तुष्टीकरण राजनीति अपेक्षा की पूर्ति हेतु मराठी मानुष की भावना भड़का कर उत्तर हिन्दी भाषी क्षेत्रों के नागरिकों को बेरहमी से पीटा ओर मुंबई छोड़ने को मजबूर किया । कई लोगों की इस मारपीट में मृत्यु भी हो गई ।

इसी प्रकार रेलवे भर्ती बोर्ड की परीक्षा में मैसूर में बिहारी छात्रों के साथ मारपीट की गयी। उत्तर पूर्व असम राज्य में बिहारियों की हत्या की गई । यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि हिंसा

कृत्यों में शिकार होनेवाले की पहचान केवल क्षेत्र विशेष था न कि जाति, धर्म या संप्रदाय । दूसरे शब्दों में मुंबई एवं मैसूर में हिंसात्मक कार्रवाई का आधार क्षेत्रीय विभाजन था । निश्चित रूप से यह लोकतंत्र के स्थापित सिद्धांतदेश के किसी भी भाग में रहने तथा निवास स्थान बनाने की स्वतंत्रता के विरुद्ध व्यवहार है । परंतु तुष्टिकरण के नीति के अन्तर्गत सत्ताधारियों द्वारा इसका कठोर विरोध नहीं हो पाता। इस द्वन्द्वात्मक पहलु का सीधा प्रभाव लोकतंत्र के सिद्धांत और व्यवहारों पर पड़ता है ।

फिर मैक्सिको के ओलंपिक समारोह में विरोध का रूप नस्ल पर आधारित था । बेल्जियम में देश के 59 प्रतिशत हिस्सा फ्लेमिश इलाके में रहता है और डच बोलता है । शेष 40 प्रतिशत लोग बेलोनिया क्षेत्र में है और फ्रेंच बोलते हैं । राजधानी ब्रुसेल्स में 80 प्रतिशत लोग फ्रेंच बोलते हैं और 20 प्रतिशत डच भाषा । फ्रेंच भाषी लोग जहाँ ज्यादा समृद्ध है । जबकि डच भाषी लोगों की स्थिति संतोषजनक नहीं है । स्वभाविक है दोनों समूहों में तनाव बढ़ना ही था जिसका तीखा अनुभव ब्रुसेल्स में दिखाई पड़ा । यही द्वन्दवाद (Conflict) लोकतांत्रिक शासन की दिशा निधरित किया और बेल्जियम में केंद्र सरकार की अनेक शक्तियाँ देश के दो इलाकों की क्षेत्रीय सरकार को सुपुर्द किया गया। यानि राज्य सरकारे केन्द्रीय सरकार के अधीन नहीं है । दोनों समुदाय ने समान प्रतिनिधि वाले ब्रुसेल्स की अलग सरकार है । संस्कृति, शिक्षा और भाषा जैसे मसलों के लिए डच, फ्रेंच और जर्मन बोलनेवाले लोग अपने सरकार के चुनाव का सामुदायिक सरकार बनाते हैं । अर्थात् बेल्जियम में सामाजिक विभाजन का आधार, नस्ल और जाति नहीं है बल्कि भाषा विभाजन का आधार है । श्रीलंका में सामाजिक विभाजन क्षेत्रीय और सामाजिक दोनों स्तर पर है ।

परन्तु ठीक इसके विपरीत भारत में सामाजिक विभाजन बहुत ही जटिल है । यहाँ उत्तर भारतीयों की संस्कृति एवं दक्षिण भारतीयों संस्कृति में बड़ा अंतर है । पुनः भाषाशी अंतराल भी बड़ा है । जातियों के बीच संघर्ष एवं तनाव की प्रवृत्ति सर्वव्याप्त है । अगड़ी जातियों एवं पिछड़ी जातियों के हितों में टकराव है । दलितों एवं पिछड़ों की भी अपनी-अपनी समस्याएँ हैं । बिहार में अभी हाल में दलितों एवं महादलितों की एक नयी पहचान निर्धारित हुआ है । इन अंतर्द्वंद्वों का प्रभाव लोकतंत्र के शासन के विभिन्न तत्त्वों पर पड़ना स्वभाविक है ।

अब हम इन सामाजिक भेदभाव की उत्पत्ति, इन विभिन्नताओं में सामंजस्य एवं टकराव तथा लोकतंत्र के बदलते स्वभाव को बताते हुए सामाजिक विभाजनों की राजनीति पर विचार करेंगे ।

आओं ! इन मुद्दों पर विचार करें –

बच्चों, तुमने उपरलिखित सारे दृष्टांत को पढ़ा । कुछ खास मुद्दों को तुम्हारे सामने विचारार्थ प्रस्तुत किए जा रहे हैं । इन मुद्दों को चिंतन के उपरांत बताओं कि किन मुद्दों से तुम सहमत हो –

मुद्दा नं0 1. हमारे संविधान के अनुच्छेद 19 में देश के सभी नागरिकों को स्वतंत्रता का मूल अधिकार दिया गया है । भारत के राज्यक्षेत्र में कहीं भी निवास करने और बस जाने का, कोई वृत्ति (occupation) करने, व्यवसाय और कारोबार करने का अधिकार भारत के सभी नागरिकों को प्राप्त है । इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद 15 के तहत धर्म, वंश, जाति या जन्म स्थान के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव का निषेध किया गया है । संविधान के प्रकाश में यह स्पष्ट है कि मुंबई में राजठाकरे के नेतृत्व में तथा कथित मराठियों द्वारा उत्तर भारतीयों पर किए गए कृत्य निःसंदेह (absolutely) सामाजिक व्यवस्था को छिन्न–भिन्न करने का एक घिनौना प्रयास है जिसके लिए कठोर दंड की व्यवस्था होनी चाहिए ।

मुद्दा नं0 2. अगर संविधान के अनुच्छेद 15 के छत्र–छाया में किसी नगर या कस्बे में अबाध गति से बहिर गातों का आगमन होता रहे तो नगर और कस्बे की जनसांख्यकीय चरित्र इतना बदल जायेगा कि वहाँ तमाम तरह की विकृतियाँ पैदा हो जाएगी । इस कस्बें या नगर के स्थानीय नागरिकों के आर्थिक स्रोत का दोहन होना शुरू हो जायेगा। फलतः उनका अस्तित्व संकटमय हो सकता है । अतएव उपद्रवियों के विरुद्ध कार्रवाई करने की अपेक्षा उनके स्थानीय हितों पर चिंतन करना चाहिए । अगर ऐसा नहीं किया गया तो मुंबई, दिल्ली या कोलकाता के अलावा कई नगरों के नागरिक सुविधा चरमराने लगेगी और विभिन्न समुदायिक समूहों के बीच वैमनस्य पैदा होने लगेगा । निश्चित रूप से लोकतंत्र के पावन सिद्धांत के विरुद्ध .... राजनेता राजनीति लाभ के लिए देश के सहिष्णुता तथा अखंडता के विचाराधारा को चकनाचूर कर देगा ।

मुद्दा नं0 3. जाति और नस्ल (Caste and Race) समान (identical) नहीं है क्योंकि जाति का आधार सामाजिक होता है ओर नस्ल का आधार जीवशास्त्री है । अतएव नस्ल के विरुद्ध राष्ट्रीय चेतना भी जीव शास्त्रीय एवं स्वभाविक है । जातिय शोषण के विरुद्ध आवाज उठाना तो ठीक माना जा सकता है । अतएव, मेरा मत है कि स्मिथ, कार्लोस और नार्मन को नस्ल विरोधी प्रतिकार मैक्सिको ओर्लंपिक समारोह में करना उसके विवेकपूर्ण औचित्य कभी नहीं माना जा सकता ।

मुद्दा नं0 4. नस्ल विशुद्ध रूप से जीवशास्त्रीय नहीं है । यह जाति की तरह ही काफी हद तक समाज शास्त्रीय और वैधानिक वर्गीकरण है, जो लोकतांत्रिक देश के लिए द्वन्द का एक विध्वंसकारी तत्त्व है । अतएव परिस्थिति में इसका प्रतिकार होना चाहिए ।

लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में सामाजिक विभाजन के स्वरूप

उपलिखित दृष्टांतों पर गौर करेंगे तो देखेंगे कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में सामाजिक विभाजन के विभिन्न स्वरूप होते है और इस भेदभाव का विरोध के अपने अलग–अलग तरीके भी होते हैं ।

क्षेत्रीय भावना के आधार पर सामाजिक बंटवारा और भेदभाव होता है और विरोध और संघर्ष की शुरूआत हो जाती है । जिसकी चर्चा अगले अध्याय में की गई है । मुंबई, दिल्ली तथा कोलकाता में उत्तर भारत के बिहारी तथा उत्तर प्रदेश के लोगों के विरुद्ध हिंसात्मक व्यवहार इसका सर्वोत्तम उदाहरण है ।

नस्ल या रंग के आधार पर भेदभाव का सटीक उदाहरण मैक्सिकों ओर्लंपिक 1968 के पदक समारोह में देखा जा सकता है । वहीं ओर्लंपिक मुकाबले के 200 मीटर की दौड़ के पदक समारोह में विजेता ऐफ्रो अमेरीकी धावक टोमी स्मिथ और जान कार्लो नामक व्यक्ति इसी समारोह में अमेरीकी अश्वेत पर अत्याचार और नस्ल आधारित भेदभाव को अपने व्यवहार से उजागर किया । आस्ट्रेलियाई धावक पीटर नार्मन जो न तो अमेरीकी थे और न ही अश्वेत ने भी नस्ल आधारित विभेद का विरोध जॉन कार्लोस और स्मिथ का साथ देकर किया । बेल्जियम एवं

श्रीलंका में यह विभाजन क्षेत्रीय और सामाजिक दोनों स्तर पर मौजूद था । श्रीलंका में बंटवारा भाषा और क्षेत्र दोनों आधारों पर दिखाई देता है । भारत में सामाजिक विविधता कई रूपों में है। भाषा, क्षेत्र, संस्कृति, धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर भारत में सामाजिक विभाजन है ।

सामाजिक भेदभाव एवं विविधता की उत्पत्ति

व्यक्ति को समुदाय या जाति का चुनाव करना उसके वश की बात नहीं है। जन्म के कारण ही कोई व्यक्ति किसी समुदाय का सदस्य हो जाता है । दलित परिवार में जन्म लेनेवाला बच्चा उस समुदाय का स्वभाविक सदस्य हो जाता है । स्त्री, पुरुष, काला–गोरा, लम्बा–नाटा आदि जन्म का परिणाम है । इस तरह के सामाजिक विभाजन जन्म आधारित सामाजिक विभाजन कहलाता है ।

परन्तु सभी सामाजिक विभाजन जन्म आधारित नहीं होते । बल्कि कुछ हम अपने इच्छा से चुनते भी है । यथा, कई व्यक्ति अपने इच्छा से धर्म परिवर्तन करता है और दूसरे समुदाय का सदस्य बन जाता है । कुछ व्यक्ति नास्तिक बन जाता है, हांलाकि उस परिवार के सभी सदस्य आस्तिा ही क्यों न हो। एक ही परिवार का कोई सदस्य शैव, शाक्त, वैष्णव धर्म में विश्वास कर सकता है । यह भी व्यक्ति के इच्छा पर निर्भर करता है कि एक ही परिवार के सदस्य अपने विवेक से भिन्न कोई पेशा चुन सकता है ।

यह संभव है कि एक ही परिवार के कई लोग किसान, सरकारी सेवक, व्यापारी, वकील आदि पेशा अपनाते हो । फलतः उनका समुदाय अलग हो जाता है तथा समुदायों के हित साधना एक–दूसरे के विपरीत भी हो सकती है ।

सामाजिक विभिन्नता और सामाजिक विभाजन में अंतर – कोई आवश्यक नहीं है कि सभी सामाजिक विभिन्नता सामाजिक विभाजन का आधार होता है । संभव हो भिन्न समुदायों के विचार भिन्न हो सकते हों । परन्तु हित समान होगा । उदाहरण के लिए मुंबई में मराठियों के हिंसा का शिकार व्यक्तियां की जातियाँ भिन्न थी, धर्म भिन्न होंगे लिंग भिन्न हो सकता है। परन्तु, उनका क्षेत्र एक ही था । वे सभी एक ही क्षेत्र उत्तर भारतीय थे । उनका हित समान था और

वे सभी अपने व्यवसाय और पेशा में संलग्न थे । इस कारण सामाजिक विभिन्नता सामाजिक विभाजन का रूप नहीं ले पाता । यद्यपि सामाजिक विभिन्नता के कारण लोगों में विभेद की विचारधारा जरूर बनती है, परंतु यही विभिन्नता कहीं–कहीं पर समान उद्देश्य के कारण मूल का काम भी करता है । आस्ट्रेलिया में रहनेवाले भारतीय विद्यार्थी भारतीय समाज के विभिन्न समुदाय से संबद्ध हो सकते हैं, परन्तु, अपने समूहों के सीमाओं से परे, उनके समान उद्देश्य के कारण समानता थी और यही कारण है कि सभी भारतीय छात्र कुछ उपद्रवी आस्ट्रेलियायियों के हिंसा के शिकार हुए । उसी प्रकार कार्लोस और स्मिथ दोनों एफ्रो अमेरिकी थे और एक दृष्टि से समान थे अर्थात् अश्वेत अमेरिकी । तथापि नार्मन श्वेत आस्ट्रेलियाई था । परन्तु तीनों में एक समानता तो जरूर थी कि वे तीनों नस्लवाद के खिलाफ थे । सभी हिन्दु धर्मावलंबी, ईसाई धर्मावलंबी, जैन धर्मावलंबी बौध धर्मावलंबी, मुस्लिम धर्मावलंबी एक ही समुदाय और जाति के सदस्य है । यद्यपि धर्म के आधार पर उनमें एकता हो सकता है परंतु संभव हो क्षेत्र, जाति, रंग, लिंग के आध ार पर उनमें विपरीत विचारधारा हो । पुनः अलग–अलग धर्म के लोगों को एक ही समुदाय के सदस्य होने के कारण अथवा एक ही नस्ल, जाति रंग के होने के कारण एक विचारधारा के पोषक हो सकते हैं । यहाँ तक कि एक ही संयुक्त परिवार के गरीब और अमीर सदस्यों के बीच विचारधारा का संघर्ष हो सकता है ।

अतएव, निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि हम सभी की एक से ज्यादा पहचान होती है, वे एक से ज्यादा सामाजिक समूहों का हिस्सा हो सकते हैं । एक वाक्य में अगर कहा जाए तो हम कह सकते हैं कि हर संदर्भ में हमारी पहचान एक अपना स्वरूप बनाता है ।

सामाजिक विभाजन एवं विभिन्नता में बहुत बड़ा अंतर है । सामाजिक विभाजन तब होता है जब कुछ सामाजिक अन्तर दूसरी अनेक विभिन्नताओं से ऊपर और बड़े हो जाते हैं (social difference overlaps with other differences) । सवर्णों और दलितों का अंतर एक सामाजिक विभाजन है, क्योंकि दलित संपूर्ण देश में आमतौर पर गरीब, वंचित एवं बेघर है और भेदभाव का शिकार है जबकि सवर्ण आम तौर पर सम्पन्न एवं सुविधा युक्त है । अर्थात् दलितों को महसूस होने लगता है कि वे दूसरे समुदाय के हैं । अतः हम कह सकते हैं कि जब एक

तरह का सामाजिक अंतर अन्य अंतरों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण बन जाता है और लोगों को यह महसूस होने लगता है कि वे दूसरे समुदाय के हैं तो इससे सामाजिक विभाजन की स्थिति पैदा होती है। अमेरिका में श्वेत और अश्वेत का अंतर सामाजिक विभाजन है ।

कभी–कभी ऐसा दिखाई पड़ता है कि सामाजिक असमानताएँ कई समूह में मौजूद रहता है। अर्थात् किसी एक मुद्दे पर कई समूह के हित एक जैसे होते हैं, जबकि किसी दूसरे मुद्दे पर दृष्टिकोण में अंतर हो सकते हैं । उदाहरणार्थ, सभी धर्मों में दलित एवं वंचित वर्गों का हित समान होता है । अतएव इनके समाज हित के मुद्दे पर एकता रहती है जबकि धार्मिक दृष्टिकोण में अंतर एवं तनाव की स्थिति बन सकते हैं । विश्व स्तर पर भी यह विभाजन स्पष्ट दिखाई पड़ता है । उदाहरणस्वरूप, उत्तरी आयरलैंड और नीदरलैंड दोनों ईसाई बहुल देश है । यहाँ के लोग प्रोस्टेंट और कैथोलिक दो खेमे में बँटे हुए हैं । परन्तु दोनों गुटों के बीच सामाजिक विभाजन का आधार एक जैसा नहीं है । उत्तरी आयरलैंड के कैथोलिक समुदाय गरीब है एवं वंचित है । लंबे समय से शोषण का शिकार है । अतएव उत्तरी आयरलैंड में वर्ग और धर्म के बीच गहरी समानता है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं उत्तरी आयरलैंड में कैथोलिकों के बीच संपूर्ण रूप से समानता एवं एकता दिखाई देती है । जबकि नीदरलैंड में कैथोलिक और प्रोस्टेट दोनों में अमीर–गरीब है । अतएव उत्तरी आयरलैंड में कैथोलिक और प्रोस्टेंटो के बीच सीधे रूप से मार–काट चलता रहता है, जबकि नीदरलैंड में ऐसा कुछ नहीं है क्योंकि वहाँ धर्म और वर्ग के बीच कोई मेल नहीं दिखाई देता । कोई भी देश चाहे बड़ा हो या छोटा, सामाजिक विभाजन और विभिन्नता स्पष्ट रूप से दिखाई देता है ।

टकराव एवं सामंजस्य लोकतंत्र की सीढ़ीयाँ है जिससे गुजरकर ही लोकसत्ता अपनी नीतियाँ निर्धारित करती है । ये नीतियाँ आसानी से निर्धारित नहीं हो पाते बल्कि प्रतिद्वंद्विता के कठिन परिवेश से गुजरते हुए सामंजस्य का माहौल बनाने का प्रयास करता है । पुनः परिस्थिति के परिणामस्वरूप सभी संघर्ष गुट अंततः इसे स्वीकार कर ही लेते हैं और नीतियाँ निर्धारित हो ही जाती है । पिछड़ों के लिए सरकारी नौकरियों एवं शिक्षण संस्थाओं में आरक्षण की मुहिम कई वर्षों पहले शुरू हुआ । काका कालेस्कर लेकर रिपोर्ट से लेकर मंडल आयोग के सिफारिश के बीच लंबे जदोजइद के बीच तथा हिंसक तनावों के बाद आरक्षण की व्यवस्था लागू हो पाई ।

ऐसी जब भी स्थिति बनती है तो राजनीतिक पार्टियों के बीच प्रतिद्वंद्विता (conflict) का माहौल पैदा हो जाता है । और राजनीति पर जातीय लेबल लगना शुरू हो जाता है ।

जाति का राजनीति पर प्रभाव – दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जाति राजनीति पर प्रभावी हो जाता है और सामाजिक न्याय के आवरण तले राजनीति का दिशा निर्धारण होने लगता है । भारतीय राजनीति के परिदृश्य पर जब हम दृष्टिपात करेंगे तो ऐसे अवधारणाओं में हम जरूर परिचित होंगे ।

सत्तर के दशक में भारतीय समाज में दलितों के पीड़ा का मार्मिक व्याख्यान महाराष्ट्र के कवि नामदेव ढसाल की इन कविता में अंर्तनिहित है –

सदीयों तक सफर किया !

उन लोगों ने !!

लेकिन अब हमें कहना है;

ना! अँधेरे की इस पथ यात्रा से ! हाँ ! हमारे पूरखे, अँधेरे को ढोते–ढोते झुक गए, लेकिन अब हमें उतारना है,

बोझ उनके पीठ से !!

इस अनुपम नगर के लिए हीं,

विखड़ा था हमारा लहू,

और बदले में यह मिला खाने को पत्थर .....

सत्ता के दशक की यह कविता कमोवेश संपूर्ण भारत के सामाजिक संरचना की ओर ध्यान आकृष्ट करता है तथा यह बताता है कि दलित जातियों के अस्तित्व की पहचान और पहुँच राजनीति से कोसो दूर था ।

सत्तर के दशक के पूर्व भारत की राजनीति अवचेतना सुविधा परस्त हित समूह के बीच झुलती रही । दूसरे शब्दों में कहे तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 1967 तक राजनीति में सवर्ण जातियों का वर्चस्व रहा । सत्तर से नब्बे तक के दशक के बीच सवर्ण और मध्यम पिछड़े जातियों में सत्ता कब्जा के लिए संघर्ष चला । नब्बे दशक के उपरांत पिछड़े जातियों का बर्चस्व तथा

दलितों की जागृति की अवधारणाएँ राजनीति गलियारों में उपस्थिति दर्ज कराती रही और नीतियों को प्रभावित करती रही । भारतीय राजनीति के इस महामंथन में पिछड़े और दलितों का सघर्ष प्रभावी रहा । आधुनिक दशक के वर्षों में राजनीति का पलड़ा दलितों और महादलितों (बिहार के संदर्भ में) के पक्ष में झुकता दिखाई दे रहा है । सरकार के नीतियां के सभी परिदृश्यों में दलित न्याय की पहचान सबके केन्द्र बिन्दु का विषय बन गया है ।

भारत ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व के राजनीति का कमोवेश यही सूरत रही है । राजनीति दल समाज में मौजूद विभाजनों के हिसाब से राजनीति होड़ करने लगती है । इस तरह सामाजिक विभाजन राजनीतिक विभाजन बन जाती है । अगर विभिन्न सघर्षरत तत्त्वों के बीच राजनीतिक समाजस्य स्थापित नहीं की जाए तो देश विघटन की तरफ जा सकता है । उत्तरी आयरलैंड का उदाहरण लें, जिसका जिक्र ऊपर किया जा चूका है । उत्तरी आयरलैंड ग्रेट–ब्रिटेन का एक हिस्सा है जो काफी समय से हिंसा, जातीय कटुता और राजनीतिक टकराव के गिरफ्त में रहा है । यहाँ की आबादी मुख्यत: ईसाई ही है और ये इसाई दो प्रमुख पंथ में बुरी तरह बँटे हुए हैं । 53 फीसदी आबादी प्रोस्टेंट है जबकि 44 फीसदी रोमन कैथोलिकों का प्रतिनिधित्व नेशनलिस्ट पार्टियाँ करती हैं । उनकी माँग है कि उत्तरी आयरलैंड को आयरलैंड गणराज्य के साथ मिलाया जाए, जो मुख्यत: कैथोलिक बहुल्य है । प्रोस्टेंट लोगों का प्रतिनिधित्व यूनियनिस्ट पार्टियाँ करते हैं, जो ग्रेट–ब्रिटेन के साथ ही रहने के पक्ष में है । क्योंकि ब्रिटेन मुख्यत: प्रोस्टेंट है । यूनियनिस्ट एवं नेशनललिस्टों के बीच चलनेवाले हिंसक टकराव में ब्रिटेन के सुरक्षा बलों सहित सैकड़ों लोग और सेना के जवान मारे जा चूके हैं । 1998 में ब्रिटेन की सरकार और नेशनलिस्टों के बीच शांति समझौता हुआ, जिसमें दोनों पक्षों ने हिंसक आंदोलन को बंद करने की बात स्वीकार की । युगोस्लाविया में कहानी का ऐसा सुखद अंत नहीं हुआ । वहाँ धार्मिक और जातीय विभाजन के आधार पर शुरू हुई राजनीतिक होड़ में युगोस्लाविया कई टुकड़ों में बंट गया ।

दुनिया के अधिकतर देशों में किसी–न–किसी किस्म का सामाजिक विभाजन है और ऐसे विभाजन राजनीतिक शक्ल भी अख्तियार करती ही है । लोकतंत्र में राजनीतिक दलां के लिए सामाजिक विभाजनों की बात करना और विभिन्न समूहों से अलग–अलग वायदे करना बड़ी

स्वाभाविक बात है । विभिन्न समुदायों को उचित प्रतिनिधित्व देने का प्रयास करना और विभिन्न समुदायों की उचित माँगों और जरूरतों को पूरा करनेवाली नीतियाँ बनाना भी इसी कड़ी का हिस्सा है । अधिकतर देशों में मतदान के स्वरूप और सामाजिक विभाजनों के बीच एक प्रत्यक्ष संबंध दिखाई देता है । कई पार्टियाँ अपने समुदाय पर ध्यान देती है और उसी के हित में राजनीति करती है । पर इसकी परिणति देश के विखंडन में नहीं होता ।

सामाजिक विभाजन के तीन निर्धारक तत्त्व - सामाजिक विभाजन की राजनीति तीन तत्त्वों पर निर्भर करती है –

प्रथम : लोग अपनी पहचान स्व–अस्तित्व तक ही सीमित रखना चाहते हैं क्योंकि प्रत्येक मनुष्य में राष्ट्रीय चेतना (national thought) के अलावा उपराष्ट्रीय (sub-national) या स्थानीय चेतना (regional thought) भी होते हैं । कोई एक चेतना बाकी चेतनाओं की कीमत पर उग्र होने लगती है तो समाज में असंतुलन पैदा हो जाता है । उदाहरणार्थ, जब तक उत्तरी आयरलैंड के लोग खुद को सिर्फ प्रोस्टेट या कैथोलिक के तौर पर देखते रहेंगे तब तक उनका सघर्ष नहीं थम पायेगा । फिर जबतक बंगाल बंगालियों का, तमिलनाडु तमिलों का, महाराष्ट्र मराठियों का, आसाम असमियों का, गुजरात गुजरातियों की भावना का दमन नहीं होगा तबतक भारत की अखंडता, एकता तथा सामजस्य खतरा में रहेगा । अतएव उचित यही है कि पहचान (recognition) के लिए सभी चेतनाएँ अपने–अपने मर्यादा में रहे और एक–दूसरे के सीमा में दखल न दें । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अगर लोग अपने बहु–स्तरीय (multiple identities) पहचान को राष्ट्रीय पहचान (national identities) का हिस्सा मानते हैं तो कोई समस्या नहीं हो सकती । उदाहरण स्वरूप, बेल्जियम के अधिकतर लोग खुद को बेल्जियाई (Belgian) ही मानते हैं, भले ही वे डच और जर्मन बोलते हैं । हमारे देश में भी ज्यादातर लोग अपनी पहचान को लेकर ऐसा ही नजरिया रखते हैं । भारत विभिन्नताओं का देश है, फिर भी सभी नागरिक सर्वप्रथम अपने को भारतीय मानते हैं । तभी तो हमारा देश अखंडता और एकता का प्रतीक है ।

द्वितीय : दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है कि किसी समुदाय या क्षेत्र विशेष की माँगों को राजनीति दल कैसे उठा रहे हैं । संविधान के दायरे में आनेवाली और दूसरे समुदाय को नुकसान न पहुँचाने वाली माँगों को मान लेना आसान है । ऊपर लिखित वृतांत से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार सत्ता के दशक के पूर्व का राजनीतिस्वरूप तथा अस्सी एवं नब्बे के दशक में राजनीति परिदृश्य में बदलाव हुआ और भारतीय समाज में सामंजस्य अभी तक बरकरार है । इसके विपरीत युगोस्लाविया में विभिन्न समुदाय के नेताओं ने अपने जातीय समूहों की तरफ से ऐसी माँगे रख दी जिन्हें एक देश की सीमा के भीतर पूरा करना असंभव था । फलत: युगोस्लाविया टुट गया और टुकड़ों में बँट गया ।

तृतीय : सामाजिक विभाजन की राजनीति का परिणाम सरकार के रूप पर भी निर्भर करता है । यह भी महत्त्वपूर्ण है कि सरकार इन माँगों पर क्या प्रतिक्रियाँ व्यक्त करते हैं । अगर भारत में पिछड़ों एवं दलितों प्रति न्याय की माँग को सरकार शुरू से ही खारिज करती रहती तो आज भारत विखराव के कगार पर होता, लेकिन सरकार इनके सामाजिक न्याय को उचित मानते हुए सत्ता में साझेदारी बनाया और इनकी देश के मुख्य धारा में जोड़ने का ईमानदारी से प्रयास किया। फलत: छोटे–मोटे सघर्ष के बावजूद भी भारतीय समाज में समरसता और सामंजस्य स्थापित है। पुन: बेल्जियम में भी सभी समुदायों के हितों को सामुदायिक सरकार में उचित प्रतिनिधित्व दिया गया। परन्तु श्रीलंका में राष्ट्र्य एकता के नाम पर तमिलों के न्यायपूर्ण माँगों को दबाया जा रहा है । ताकत के दम पर एकता बनाए रखने की कोशिश अक्सर विभाजन की ओर ले जाते हैं।

लोकतंत्र में सामाजिक विभाजन की राजनीतिक अभिव्यक्ति एक सामान्य बात है और यह एक स्वस्थ राजनीति का लक्षण भी है । राजनीति में विभिन्न तरह सें सामाजिक विभाजनों की अभिव्यक्ति ऐसे विभाजनों के बीच संतुलन पैदा करने का भी काम करती है । परिणामत: कोई भी सामाजिक विभाजन एक हद से ज्यादा उग्र नहीं हो पाता और यह प्रवृत्ति लोकतंत्र को मजबूत करने में सहायक भी होता है । लोग शांतिपूर्ण और संवैधानिक तरीके से अपनी माँगों को उठाते हैं और चुनावों के माध्यम से उनके लिए दबाव बनाते हैं, उनका समाधान पाने का प्रयास करते हैं।

(ख) सामाजिक विभाजन में जाति, धर्म और लिंग विभेद के स्वरूप

सामाजिक विभाजन के तीन अभिव्यक्तियों में जाति की अवधारणा अति महत्त्वपूर्ण है । राजनीति में इनके सकरात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू की महत्ता है । जाति व्यवस्था राजनीति में कई तरह की भूमिका निभाती है । एक तरफ राजनीति में जातीय विभिन्नताएँ और असमानताएँ वंचित और कमजोर समुदायों के लिए अपनी बातें आगे बढ़ाने और सत्ता में अपनी हिस्सेदारी माँगने की गुंजाईस भी पैदा करती है । इस अर्थ में जातिगत राजनीति ने दलित और पिछड़ी जातियों के लोगों के लिए सत्ता तक पहुँचने तथा निर्णय प्रक्रिया को बेहतर ढंग से प्रभावित करने की स्थिति भी पैदा की है । तो दूसरी ओर सिर्फ जाति पर जोर देना नुकसानदेह भी हो सकता है । सिर्फ जातिगत पहचान पर आधारित राजनीति लोकतंत्र के लिए शुभ नहीं होता ।

जातिगत असमानताएँ

दुनिया भर के सभी समाज में सामाजिक असमानताएँ और श्रम विभाजन पर आधारित समुदाय विद्यमान है । भारत इससे अछुता नहीं है। भारत की तरह दूसरे देशों में भी पेशा का आधार वंशानुगत है । पेशा एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी में स्वमेव चला आता है । पेशे पर आधारित सामुदायिक व्यवस्था ही जाति कहलाती है । यह व्यवस्था जब स्थायी हो जाता है तो श्रम विभाजन का अतिवादी रूप कहलाता है । जिसे हम जाति के नाम से पुकारने लगते हैं । यह एक खास अर्थ में समाज में दूसरे समुदाय से भिन्न हो जाता है । इस प्रकार के वंशानुगत पेशा पर आधारित समुदाय, जिसे हम जाति कहते हैं, की स्वीकृति रीति-रिवाज (Ritual) से भी हो जाती है । इनकी पहचान एक अलग समुदाय के रूप में होता है और इस समुदाय के सभी व्यक्तियों की एक या मिलती-जुलती पेशा होती है । इनकी बेटे-बेटियों की शादी आपस के समुदाय में ही होता है तथा खान-पान भी समान समुदाय में ही होता है । अन्य समुदाय में इनके संतानों की शादी न तो हो सकते हैं और न ही करने की कोशिश करते हैं । महत्त्वपूर्ण परिवारिक आयोजन और सामुदायिक आयोजन में अपने समुदाय के साथ एक पांत में बैठकर

भोजन करते हैं । कहीं–कहीं तो ऐसा देखा गया है कि अगर इस एक समुदाय के बेटा या बेटी दूसरे समुदाय के बेटा या बेटी से शादी कर लेते हैं तो उसे पांत से काट दिया जाता है । अपने समुदाय से हटकर दूसरे समुदाय में वैवाहिक संबंध बनाने वाले परिवार को समुदाय से निष्कासित भी कर दिया जाता है ।

वर्ण-व्यवस्था–वर्ण-व्यवस्था जातिगत समुदाय का बड़ा वर्ग है । इस वर्ग में कई जातियाँ समाहित है । अर्थात वर्ण व्यवस्था जाति समूहों का पदानुक्रम व्यवस्था है, जिसमें एक जाति के लोग हाल में सामाजिक पायदान में सबसे ऊपर रहेंगे तो किसी अन्य जाति समूह के लोग क्रमागत के क्रम से नीचें । उदाहरणार्थ हिन्दुओं में वर्ण–व्यवस्था का व्यवस्थित स्वरूप है। जिसमें ब्रह्मण, क्षत्रिये, वैश्य तथा शुद्र का क्रमानुसार व्यवस्था है । शुरू में यह व्यवस्था केवल श्रम–विभाजन पर आधारित था और श्रम के अलावा उनमें आपस में खान–पान तथा शादी–विवाह भी होता था । परन्तु कालांतर में यह व्यवस्था कठिन एवं स्थायी होता गया तथा शादी–विवाह एवं खान–पान भी एक वर्ण तक ही सीमित रह गया । पुनः एक वर्ण में कई समुदायिक व्यवस्थाएँ हो गई जो समुदाय का अतिवादी व्यवस्था है । इसे जातिगत व्यवस्था कहते हैं । पुनः इन जातियों में उपजातियाँ भी बनने लगी । यह प्रवृत्ति भारतीय समाज के जातिगत व्यवस्था का नकरात्मक पहलू है । वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत वैश्य समुदाय शुद्र की स्थिति अशंतोषजनक है। जबकि ब्रह्मण और क्षत्रिय की स्थिति सुविधा जनक है । भारतीय समाज पूर्णरूप से अगड़ें और पिछड़े जातियों में विभाजित हो गये । राजनीति की सत्ता की बागडोर पूर्व में आज भी उच्च जातियों के हाथ में रही और इन समुदायों के लोगों ने सत्ता में संतोष जनक हिस्से का भागीदार बने । परन्तु वर्ण के नीचले पदक्रम पर उपस्थित जातियाँ अंत्यज (untouchable) कहलाने लगी । इन अत्यंज जातियों के साथ छुआ–छुत का व्यवहार होने लगा । 'अत्यंज' (untouchables) समुदाय में सम्मिलित दलित जातियाँ सत्ता से पूर्णरूपेण बंचित रही । परन्तु पिछले शताब्दि के उतरार्द्ध में भारतीय राजनीति का स्वरूप बदला और धीरे–धीरे दलित जातियों में जागृति हुई । ज्योतिबा फुले, महात्मा गाँधी, डॉ० भीमराव अंबेदकर और पेरियार रामास्वामी नयर जैसे राजनेताओं और समाज सुधारकों ने जातिगत भेदभाव से मुक्त समाज की व्यवस्था बनाने की बात की और इसमें सफल भी हुए । इन महापुरूषों के प्रयास एवं पिछड़े दलितों तथा बँचित समुदाय में जागृति के फलस्वरूप

आधुनिक भारत में जाति की संरचना और जाति व्यवस्था में भारी बदलाव हुआ है । सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन ने भी जाति व्यवस्था को ढाहने की कोशिश में अहम् भूमिका निभायी है । चंतुदिश आर्थिक विकास, साक्षरतादर एवं शिक्षा में वृद्धि, पेशा चुनने की आजादी तथा शहरीकरण का बढ़ता दायरा ने भी जाति–व्यवस्था को कमजोर किया । गाँव में भी जाति व्यवस्था के पुराने स्वरूप तथा वर्ण व्यवस्था पर टिकी मानसिकता में बदलाव आ रहा है । गाँव की अपेक्षा शहरों में जाति–व्यवस्था के पुराने स्वरूप तथा जातिगत संकीर्ण मानसिकता में तेजी से बदलाव आया है क्योंकि शहर में एक ही मोहल्ले में कई जातियों के लोग बसते हैं और पड़ोसीपन की भावना के कारण उनके विचार में ज्यादा उदारता पनपने लगी है । खान–पान तो निश्चित रूप से जातीय समुदाय तक सीमित नहीं रही बल्कि मोहल्ले के वासियों में पारिवारिक आयोजन तथा अन्य अवसरों पर पूरे मोहल्ले में सभी व्यक्ति एक साथ एवं एक पांत में भोजन करने से नहीं हिचकते । अंर्तजातीय एवं अंतर धार्मिक शादियों पर समुदाय में आश्चर्य नहीं होता । होटल, ट्रेन या बस में एक साथ बैठकर सफर करने में किसी को कोई एतराज नहीं होता । हमारे सँविधान के तृतीय भाग में जातिगत भेदभाव का निषेध किया गया है। सँविधान में प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्रता दी गई है कि वह अपने इच्छा से पेशा का चयन कर सकता है । सँविधान में उल्लिखित जाति भावना को निषेध करनेवाली व्यवस्था के अंतर्गत सरकार ने नीतियाँ बनायी तथा छुआ–छुत की भावना को अपराधिक कृत्य घोषित किया । इसके लिए दंड का भी प्रावधान किया गया है ।

फिर भी भारत में जाति–प्रथा का पूर्णरुपेण उन्मूलन नहीं हो सका है । अधिकांश शादी–व्याह अपने जाति में ही होता है और इसे उत्तम माना गया है । स्पष्ट संवैधानिक प्रावधान के बावजूद हमारे समाज में अभी भी छुआ–छुत विद्यमान है । सदियों से कुछ जातीय समूह लाभकर स्थिति में है; तो कुछ को दबाया जा रहा है । कुछ सशक्त जातियाँ पहले से ही शिक्षा में अग्रणी रहे है जिस कारण शिक्षा में अभी भी उन्हीं का बोलवाला है । कुछ जातिय समुदाय (दलित जातियाँ) अभी भी शिक्षा से बँचित है । स्वभाविक है कि वे पिछड़े हैं । यही कारण है कि शहरी मध्यम वर्ग में सबल जातिय समुदाय का अनुपात ज्यादा है और उनमें जागृति भी ज्यादा है । चूँकि जाति और आर्थिक हैसियत में निकट का संबंध है, अतएव उनकी सामाजिक

हैसियत भी अच्छी है । समाज में वर्चस्व है । दूसरे शब्दों में कहें तो यह अतिश्योक्ति नहीं होगी कि आर्थिक असमानता का एक महत्त्वपूर्ण आधार जाति भी है । जिस जाति की पहुँच विभिन्न संसाधनों पर अधिक होगा वे संपन्न होंगे और जिसकी पहुँच इन संसाधनों तक नहीं हो पाती वे जातियाँ पिछड़े अथवा बंचित होगी । पुराने जमाने में अछुत (untouchables) या शुद्र को जमीन रखने का अधिकार नहीं था । प्राचीन काल में दलित को शिक्षा पाने का अधिकार भी नहीं था । 'द्विज' जातियों को ही शिक्षा पाने का अधिकार था । यद्यपि आज जाति पर आधारित इस प्रकार की भावना का निषेध कर दिया गया है और इस प्रकार के कृत्य गैर-कानूनी घोषित है । फिर भी सदियों से जिस प्रवृत्ति ने तथा वंचित कुछ जातिय समुदाय को लाभ या घाटा में रखा, उसका असर अब भी समाज में मौजूद है । इन असमानताओं को पूरी तरह तो नहीं ही मिटाया जा सका । बल्कि कुछ अन्य तरह के असमानताओं की भी वृद्धि हुई है ।

परंतु सामाजिक संरचना में औसतन बदलाव तो हुआ ही है । जाति और आर्थिक स्थिति की पुरानी परिस्थितियाँ अब पूरी तरह बरकरार नहीं है, बल्कि इसे बदलाव हुआ है ।

जातीय सामाजिक संरचना तथा आर्थिक हैसियत के निर्धारण की कुछ विशेषताएँ हैं जो समाज में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है । इस संदर्भ में कुछ निम्न बिन्दुओं पर गौर किया जा सकता है–

1. औसत आर्थिक हैसियत (the average economic status) का संबंध वर्ण-व्यवस्था से गहरा है । अर्थात् ऊँची जातियों की स्थिति सबसे अच्छी है । दलित और आदिवासियों की स्थिति बदतर है । पिछड़ी जातियों की स्थिति मध्यम दर्जे का है ।

2. यद्यपि हर जातियों में अमीर-गरीब है, परन्तु निचली जातियाँ यथा दलितों, आदिवासियों में ज्यादा बड़ी संख्या में गरीबी है । दलितों में महादलितों की स्थिति तो और भी दयनीय है। अर्थात् गरीबी रेखा (प्रति व्यक्ति प्रतिमाह 327 रुपये (ग्रामीण) और 455 रुपये (शहरी) से कम खर्च करनेवाले (लोग) से नीचे बसर करनेवाले अधिकाधिक लोग दलितों एवं आदिवासियों में है । अमीरों की अधिक संख्या ऊँची जातीय समुदाय में है ।

गरीबी रेखा में नीचे जीवनवसर करनेवालों का प्रतिशत अनुपात

(वर्ष 1999- 2000)

जाति और समुदाय	ग्रामीण	शहरी
अनुसूचित जनजातियाँ	45.8	35.6
अनुसूचित जातियाँ	35.9	38.3
अन्य पिछड़ी जातियाँ	27.00	29.5
मुसलमान अगड़ी जातियाँ	26.8	34.2
हिन्दू अगड़ी जातियाँ	11.7	9.9
ईसाई अगड़ी जातियाँ	9.6	5.4
ऊँची जाति के सिख	0.0	4.9
अन्य अगड़ी जातियाँ	16.0	2.7
सभी समूह	27.0	23.4

(साभार, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण 5वाँ दौड़ 1999-2000)

राजनीति में जाति

कहा जाता है कि सामुदायिक समाज के संरचना की आधार जाति है क्योंकि एक जाति के लोग ही स्वभावित समुदाय का निर्माण करते हैं । इन समुदायों के लोगों के हित समान होते हैं। दूसरे अन्य समुदाय के हितों से इनका हित भिन्न होता है । फलत: भिन्न-भिन्न जातीय समुदायों के हितों में कोई मेल नहीं; परन्तु अनुभवों के आधार पर हमें यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि जाति हमारे जीवन का एक पहलू जरूर है, परन्तु यही एकमात्र या सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू नहीं है । राजनीति में जातियों के अनेक पहलू हो सकते हैं । यथा-

1. निर्वाचन के वक्त पार्टी अभ्यर्थी (candidate) तय करते समय जातीय समीकरण का ध्यान जरूर करती है । चुनाव क्षेत्र में जिस जाति विशेष की मतदाताओं की संख्या सबसे अधिक होती है, पार्टियाँ उस जाति के हिसाब से अभ्यर्थी (candidate) तय करती है, ताकि उन्हें चुनाव जीतने के लिए जरूरी वोट मिल जाए । सरकार गठन के समय भी जातीय समीकरण को ध्यान में रखा जाता है । इस बात का ख्याल किया जाता है कि विभिन्न जातियों और कबिल लोगों को उचित प्रतिनिधित्व दिया जाय ।
2. राजनीति पार्टियाँ जीत हासिल करने हेतु जातिगत भावना को भड़काने की कोशिश करते हैं; कुछ दल विशेष की पहचान भी जातिगत भावना के आधार पर हो जाती है ।
3. निर्वाचन के वक्त पार्टियाँ वोटरों के बीच साख बनाने हेतु अपना चेहरा स्वच्छ और जाति भावना से ऊपर बनाने की कोशिश करते हैं ।
4. दलित और नीची जातियों का भी महत्त्व निर्वाचन के वक्त बढ़ जाता है । उच्च वर्ग या जाति के उम्मीदवार भी नीची जातियों के सम्मुख नम्र भावना से जाते हैं और उनके मन हासिल करने हेतु अनुनय-विनय करते हैं । इन अवसरों पर नीची जातियों में भी आत्म गौरव जागृत होता है और स्वाभिमान जगता है । अर्थात् इन जातियों में राजनैतिक चेतना के सुअवसर प्राप्त होते हैं ।

चुनाव की जातियता में ह्रास की प्रवृत्ति

यद्यपि प्राय: राजनीति में जातिगत भावना पर जोर दिया जाता है और यह धारणा बन जाती है कि चुनाव और कुछ नहीं बल्कि जातियों का खेल है । परन्तु ऐसी बात नहीं है । राजनीति में अन्य अवधारणाएँ भा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है यथा–

1. किसी भी निर्वाचन क्षेत्र का गठन इस प्रकार नहीं किया गया है कि उसमें मात्र एक जाति के मतदाता रहे । ऐसा हो सकता है कि एक जाति के मतदाता की संख्या अधिक हो सकती है, परन्तु दूसरे जाति के मतदाता भी निर्णयक भूमिका निभाते हैं। अतएव हर पार्टी एक या एक से अधिक जाति के लोगों का भरोसा हासिल करना चाहता है ।

2. यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि कोई पार्टी विशेष केवल एक ही जाति का वोट हासिल कर सत्ता में आता है । जब लोग किसी जाति–विशेष को किसी एक पार्टी का वोट बैंक कहते हैं तो इसका मतलब यह होता है कि उस जाति के ज्यादातर लोग उसी पार्टी को वोट देते हैं ।

3. अगर किसी संसदीय या विधानसभा निर्वाचन क्षेत्र में किसी एक जाति विशेष की अधि काधिक संख्या हो तो चुनाव लड़ रहे सभी पार्टियाँ उसी जाति विशेष के लोगों को अभ्यर्थी बनाते हैं । ऐसा भी हो सकता है कि उस निर्वाचन क्षेत्र में किसी–किसी जाति के मतदाता के सामने उनकी जाति का एक भी उम्मीदवार नहीं हो ।

4. अगर जातीय भावना स्थायी और अटूट होता तो जातीय गोलबंद पर सत्ता में आनेवाले पार्टी की कभी हार नहीं होती है । यह माना जा सकता है कि क्षेत्रिय (Regional) पार्टियाँ जातीय गुटों से संबंध बनाकर सत्ता में आ जाए, परंतु अखिल भारतीय चेहरा पाने के लिए जाति विहिन, साम्प्रदायिकता के परे विचार रखना आवश्यक होगा ।

ऊपर लिखित तथ्यों पर गौर करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि राजनीति में जाति की भूमिका मत्त्वपूर्ण होती है परन्तु दूसरे कारक (other facters) भी कम असरदार नहीं होता । मतदाता अपनी जातियों से जितना संबंध रखते हैं, अक्सर उससे ज्यादा गहरा संबंध राजनीतिक दल में भी रखते हैं । फिर एक ही जातीय समुदाय में अमीर और गरीब लोग प्राय: अलग–अलग पार्टियों को वोट देते हैं । सरकार या राजनेताओं की लोकप्रियता उनके जातीय मुखौटा के कारण नहीं बढ़ती बल्कि उसके कामकाज के कारण बढ़ती है ।

जाति के अन्दर राजनीति अर्थात् जाति को राजनीति भी प्रभावित करते हैं– ऊपर हमने यह देखा कि जाति की भूमिका राजनीति में महत्त्वपूर्ण हैं । अर्थात् जाति राजनीति को प्रभावित करती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि राजनीति और जाति के बीच एक पक्षीय संबंध है । राजनीति भी जाति को प्रभावित करता है और राजनीति जाति भावना को उभारता है । जाति विशेष समुदाय को साथ लेने की कोशिश करता है जो कभी उससे अलग था ।

1. कभी–कभी राजनीति का यह भी कोशिश रहता है कि करीब–करीब समान स्थिति वाले कई जातीय समुदायों को जोड़कर गठबंधन बनाया जाए और राजनीतिक सत्ता हासिल किया जाए । उत्तर भारत के कुछ प्रांतों में इस तरह के परिदृश्य अवश्य दिखायी पड़ते हैं । गठबंधन के जातियों के बीच मोल–भाव और संवाद चलता रहता है । दूसरे शब्दों में हम इसे जातियों का राजनीतिकारण की संज्ञा दे सकते हैं ।

2. संपूर्ण भारत की राजनीति आज पिछड़े, दलित अल्पसंख्यक तथा वंचित समुदाय के इर्द–गिर्द घुम रही है । अपनी सत्ता मजबूत करने हेतु इनके दु:स्थित को सुधारने में लगे हुए हैं। अतएव इसका सबसे बड़ा लाभ है कि भारत का सर्वांगीण विकास हो रहा है । आज राजनीति का केन्द्र बिन्दु इन वंचित तथा शोषित समूहों के आस–पास स्थित हो गया है । यह अनजाने ही सही, राजनीति का सकारात्मक पहलु है । अर्थात् आज के राजनीति का प्रमुख उद्देश्य दलितों, वंचित तथा पिछड़े जातियों को जमीन, संसाधन तथा अवसर उपलब्ध कराना हो गया है ताकि उनकी आर्थिक स्थिति सुधर सके । सत्ता में इनकी अधिक–से–अधिक भागीदारी के वायदे किए जा रहे हैं तथा इनका महत्त्व वोट बैंक के रुप में भी काफी बढ़ गया है ।

धर्म, संप्रदायिकता एवं राजनीति

अब हम दूसरे प्रकार के सामाजिक विभाजन की चर्चा करेंगे । यह सामाजिक विभाजन धर्म पर आधारित होगा । भारत ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व में धर्म पर आधारित इस प्रकार के सामाजिक विभाजन दृष्टिगोचर होते हैं । भारत के सदृश्य सभी देशों में भिन्न–भिन्न धर्म के अनुगामी विद्यमान है । उनकी आस्था दूसरे व्यक्ति के आस्था से भिन्न हो सकती है और आस्था पर आधारित उनके समुदाय के विचार अलग हो सकते हैं । यथा हमने पहले देखा है कि उत्तरी आयरलैंड में एक ही धर्म के दो अलग–अलग सामुदायिक गुट हैं– रोमन कैथोलिक तथा प्रोस्टेंट। वर्चस्व को लेकर दोनों में तनाव की स्थिति है ।

भारत में भी एक ही धर्म के कई विश्वास की परंपरा है । यथा– हिन्दू धर्म में ही शैव परंपरा, वैष्णव, कबीर पंथी, जैनी तथा बौद्ध धर्मालंबी है ।

धर्म का राजनीतिकरण कारण प्रायः अधिकांश देशों में कमोवेश दिखाई पड़ता है, जिसे हम निम्न दृष्टिकोण से परख सकते हैं–

1. गाँधीजी ने एक बार कहा था कि धर्म को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता । इसका अर्थ यह नहीं निकालना चाहिए कि हिन्दु या ईस्लाम धर्म को आधार मानकर देकर राजनीति की नींव खड़ी की जाए । बल्कि उनका मानना था कि राजनीति का आधार नैतिक मूल्य होना चाहिए और राजनीति धर्म द्वारा स्थापित मूल्यों से निर्देशित होना चाहिए।

2. एक मानवाधिकार समूह के रिपोर्ट के अनुसार भारत में सांप्रदायिक दंगों का सबसे बड़ा शिकार अल्पसंख्यक समुदाय ही है । अतएव अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए विशेष संरक्षण की व्यवस्था होने चाहिए ।

3. महिला आंदोलनों ने एक संदेश के माध्यम से यह स्पष्ट करने की कोशिश किया है कि सभी धर्मों में पारिवारिक कानून (family laws) महिलाओं के साथ भेदभाव रखती है। अर्थात् परिवारिक कानून के उर्पबंध पुरुषों के तरफ ज्यादा झुका हुआ है, इससे महिलाओं में असुरक्षा, शोषण तथा अत्याचार के गुंजाईश अधिक है । अतएव ऐसे कानून में संशोधन होना चाहिए । परन्तु कोई भी दल इसके लिए तैयार दिखायी नहीं पड़ता ।

ये सारी बातें धर्म और राजनीति से जुड़े हुए हैं । क्या ऊपर लिखित बातों पर गौर करने के बाद ऐसा लगता है कि धर्म एक गंदा विचार है और इसे राजनीति से दूर रखना चाहिए? वास्तव में विभिन्न धर्मों के अच्छे विचार, आदर्श तथा मूल्य (good ideas, ideals and values) का समावेश राजनीति में हो तो देश का कल्याण ही होगा । राजनीति में इनकी भूमिका अहम हो सकती है । हर व्यक्ति को एक धार्मिक समुदाय के तौर पर अपनी जरूरतों, हितों तथा न्याय संगत माँगों को राजनीति में जोर-शोर से उठाने का अधिकार होना चाहिए । राजनैतिक सत्ता को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए । परन्तु प्रहरी के तौर पर राजनीतिक सत्ता को यह भी देखना चाहिए कि कोई धर्म किसी के साथ भेदभाव तो नहीं करता है या किसी पर अत्याचार तो नहीं कर रहा है । अर्थात् इस तरह के कामकाज का निषेध राजनीति में आवश्यक है ।

सांप्रदायिकता

राजनीति में धर्म एक समस्या के रूप में तब खड़ी हो जाती है जब–

1. धर्म को राष्ट्र का आधार मान लिया जाता है ।
2. राजनीति में धर्म की अभिव्यक्ति एक समुदाय विशेष के विशिष्ठता के लिए की जाती है।
3. राजनीति किसी धर्म विशेष के दावे का पक्षपोषण (support) करने लगती है ।
4. किसी धर्म विशेष के अनुयायी दूसरे धर्मावलंबियों के खिलाफ मोर्चा खोलने लगता है । ऐसा तब होता है जब एक धर्म के विचारों का दूसरे धर्म के विचारों से श्रेष्ठ माने जाने लगता है और एक धार्मिक समूह अपनी माँगों को दूसरे समूह के विरोध में खड़ा करने लगता है । इस प्रक्रिया में राज्य अपनी सत्ता का उपयोग किसी एक धर्म विशेष के पक्ष में करने लगता है तो समस्या और गहरी हो जाता है तथा दो धार्मिक समुदाय में हिसात्मक तनाव (Riot) शुरू हो जाता है।

राजनीति में धर्म को इस तरह इस्तेमाल करना ही सांप्रदायिकता (communalism) कहलाता है ।

सांप्रदायिकता की परिभाषा– जब हम यह कहना शुरू करते हैं कि धर्म ही समुदाय का निर्माण करती है तो सांप्रदायिक राजनीति जन्म लेने लगती है और इस अवधारणा पर आधारित सोच ही सांप्रदायिकता है । इसके अनुसार एक धर्म विशेष में आस्था रखनेवाले एक ही समुदाय के होते हैं उनके मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण हित एक जैसे होते हैं । यद्यपि इस धर्म विशेष समुदाय के सदस्यों में मतभेद हो सकते हैं । परन्तु इस मतभेद का कोई अहमियत नहीं होती और सभी को एक तरह का सोच रखना आवश्यक है । इस धर्म विशेष समुदाय के सदस्यों का यह मत भी होता है कि दूसरे धर्म के लोगों की सोच और हित उनसे विपरीत हो। यद्यपि कई धर्म–समुदाय अपने सोच में एकता दर्शाते हैं, तो यह केवल ऊपरी (superfluous) होती है । निश्चित रूप से अलग–अलग धर्म समुदाय के लोगों के हित अलग होंगे ही और उनमें तनाव की गुंजाईश अधिक होगी । समुदाय विशेष के सोच जब उग्र होने लगता है ता यह तनाव भी उग्र हो जाता है और हिंसात्मक विरोध (Riot) शुरू हो जाता है । विचार पनपने लगता है कि एक ही राष्ट्र में समान नागरिक के तौर पर दूसरे धर्म समुदाय के लोग नहीं रह सकते हैं। इस मानसिकता के अनुसार दूसरे धर्मालंबियों को मजबूर कर दिया जाता है कि या तो वे अपना अलग राष्ट्र

(Nation State) बनाए या उसके धर्म के वर्चस्व को स्वीकार करं तथा उसपर थोपे गए निर्देश का निर्वहन करें ।

इस तरह की अवधारणा बहुत ही गलत है क्योंकि हर व्यक्ति की आकांक्षाएँ निश्चित रूप से एक नहीं हो सकती । हर व्यक्ति का समाज में अलग-अलग भूमिका है । उनकी स्थिति और हैसियत अलग-अलग है । उनका विचार अलग-अलग है । उनके विचार की अभिव्यक्ति भी अलग-अलग हो सकती है । अतएव एक-एक धार्मिक समुदाय के लोगों द्वारा दूसरे धर्म के अनुयायियों पर आक्रमण कर देना, उनका विरोध करना अथवा उनको देश से बाहर करना बिल्कुल न तो तार्किक है और न ही न्याय संगत । अतएव एक धर्म में जुड़े सभी लोगों को किसी गैर-धार्मिक संदर्भ में एक करके देखना उस समुदाय के विभिन्न आवाजों, अवधारणाओं तथा विचारों का दमन करना है ।

राजनीति में सांप्रदायिकता के स्वरूप– हम प्रत्येक दिन सांप्रदायिकता की अभिव्यक्ति देखते हैं, महसूस करते हैं, यथा धार्मिक पूर्वाग्रह, परंपरागत धार्मिक अवधारणाएँ एवं एक धर्म को दूसरे धर्म से श्रेष्ठ मानने की मान्यताएँ (Religions prejudices, steriotypes of religions comunities and belief in the superiosity of one's religion over other religion) । हालाँकि ये सारी चीजें बिल्कुल साधारण सी बात है परन्तु यह सोच हमारे अंदर बैठा है । अतएव यह भी सांप्रदायिकता का एक रूप है–

1. सांप्रदायिकता की सोच प्रायः अपने धार्मिक समुदाय का प्रमुख राजनीति में बरकरार रखना चाहता है । जो लोग बहुसंख्यक समुदाय के होते हैं उनकी यह कोशिश बहुसंख्यकवाद (majoritatian dominance) का रूप ले लेती हैं । उदाहरणार्थ श्रीलंका में सिंहलियों का बहुसंख्यकवाद । यहाँ लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित सरकार ने भी सिंहली समुदाय की प्रभुता कायम करने के लिए अपने बहुसंख्यक परस्ती (majoritatian measures) के तहत कई कदम उठाए । यथा– 1956 में सिंहली को एकमात्र राजभाषा के रूप में घोषित करना, विश्वविद्यालय और सरकारी नौकरियों में सिंहलियों को प्राथमिकता देना, बौद्ध धर्म के संरक्षण हेतु कई कदम उठाना आदि ।

2. सांप्रदायिकता के आधार पर राजनीति गोलबंदी (political mobilisation on religious lines) सांप्रदायिकता का दूसरा रूप है । इस हेतु पवित्र प्रतीकों (sacret symbols), धर्म गुरुओं और भावनात्मक अपील आदि का सहारा लिया जाता है । निर्वाचन के वक्त हम अक्सर ऐसा देखते हैं । किसी खास धर्म के अनुयायियों से किसी पार्टी विशेष के पक्ष में मतदान करने की अपील कराई जाती है ।

3. और अंत में सांप्रदायिकता का भयावह रूप तब हम देखते हैं, जब संप्रदाय के आधार पर हिंसा, दंगा और नरसंहार होता है । विभाजन के समय हमने इस त्रासदी को झेला है । आजादी के बाद भी कई जगहों पर बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक हिंसा हुई है ।

धर्मनिरपेक्ष शासन की अवधारणा

हमारे संविधान निर्माताओं को सांप्रदायिकता के इस भयावह चेहरा की परिकल्पना पहले से थी । अतएव भारत में शासन का धर्म निरपेक्ष मॉडल चुना गया और हमारा देश धर्मनिरपेक्ष (sccular) देश बना । हमारे संविधान में धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना हेतु अनेक उपबंध किये गए हैं–

1. हमारे देश में किसी भी धर्म को राजकीय धर्म के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है । श्रीलंका में बौद्ध धर्म, पाकिस्तान में इस्लाम और इंगलैंड में इसाई धर्म का जो दर्जा दिया गया है, उसके विपरीत भारत का संविधान किसी धर्म को विशेष दर्जा नहीं देता ।

2. संविधान में हर नागरिक को यह स्वतंत्रता दी गई है कि अपने विश्वास से वह किसी धर्म को अंगीकार कर सकता है । इस आधार पर उसे किसी अवसर से बंचित नहीं किया जा सकता है । प्रत्येक धर्मावलंबियों को अपने धर्म का पालन करने अथवा शांतिपूर्ण ढ़ंग से प्रचार करने का अधिकार है । इस हेतु वह शिक्षण संस्थाओं को स्थापित और संचालित कर सकता है ।

3. हमारे संविधान के अनुसार धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव असंवैधानिक घोषित है ।

4. संविधान के अनुसार धार्मिक समुदाय में समानता स्थापित करने के लिए धार्मिक मामलों में भी दखल दिया जा सकता है । यथा छुआछुत की इजाजत शासन नहीं देता है ।

धर्म निरपेक्षता केवल विचारधारा ही नहीं है बल्कि संविधान ही बुनियाद है । जबकि सांप्रदायिकता भारत की बुनियादी अवधारणा के लिए एक चुनौती है ।

लैंगिक मसले और राजनीति

लैंगिक असमानता सामाजिक असमानता का एक महत्त्वपूर्ण रूप है । यद्यपि लैंगिक असमानता समाजिक संरचना के हर क्षेत्र में दिखाई पड़ता है, परन्तु राजनीति के अध्ययन में शायद ही इस बात की पहचान की जाती है । यहाँ हम स्त्री और पुरुष के जैविक बनावट की ओर ध्यान नहीं देंगे, बल्कि इन दोनों के बारे में प्रचलित रूढिवादी छवियाँ और तयशुदा सामाजिक भूमिका के बारे में विवेचना करेंगे ।

लैंगिक विभेद पर आधारित सामाजिक विभाजन सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र दोनों में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है । लड़के और लड़कियों के पालन–पोषण के क्रम में ही परिवार में यह भावना घर कर जाती है कि भविष्य में लड़कियों की मुख्य जिम्मेवारी गृहस्थी चलाने और बच्चों का पालन–पोषण तक ही सीमित होती है और इसकी पुष्टि श्रम के लैंगिक विभाजन (sexual division of labour) से हो जाती है । यह प्रवृति कमोवेश सभी परिवारों में देखा जा सकता है । महिलाओं का कार्यक्षेत्र घर के अंदर तक ही सीमित रहता है । उनका काम खाना बनाना, कपड़ा साफ करना, सिलाई–फड़ाई करना तथा बच्चे का पालन–पोषण आदि है । इसका आधार कोई जैविक नहीं है । पुरुष भी इन कार्यों को भलीभाँति कर सकता है । परन्तु पुरुष वर्ग के दिमाग में यह विचारधारा घर बना चुका है कि औरतों का जन्म इस कार्य को ही करने के लिए हुआ । पुरुष वर्ग महिलाओं की यही तयशुदा सामाजिक भूमिका मानता है । परन्तु काम के इस प्रकृति के लिए जहाँ पैसा चुकाया जाता है वहाँ मर्द खुशी–खुशी इस कार्य को करते हैं । ऐसा कार्य करने में वे अपने को हीन नहीं समझते । अगर वही मर्द अपने घर के अन्दर वर्तन

साफ करें, खाना बनाए या सिलाई–फड़ाई करें तो उसे लोग स्त्रैण की संज्ञा देने लगते हैं । समाज में उनपर छीटाकसी की जाती है ।

हम यह भी देखते हैं कि होटल में खाना बनानेवाले अधिकांश पुरुष ही हैं उसी प्रकार महिला पुरुषों की तरह घर की आवश्यकता के लिए बाहर से पानी भी लाती है । जलावन भी चूनकर इकट्ठा करती है तथा खेतों में कार्य करती है । हलाँकि इसके लिए उसे कीमत नहीं दिया जाता । फिर स्त्रियाँ किसी मध्यम परिवार में घरेलु कार्य करती हैं तो उसे कीमत दिया जाता है। मध्यम वर्गीय परिवार की महिलाएँ दफ्तर जाती है । यहाँ महिलाओं के बारे में एक सच्चाई तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अधिकतर महिलाएँ अपने घरेलु कार्य के अतिरिक्त अपनी आमदनी के लिए जो अतिरिक्त कार्य करती है तो उसके ऐसे कार्य को ज्यादा मूल्यवान नहीं समझा जाता । उन्हें दिन–रात काम करने का भी श्रेय नहीं मिलता है ।

फिर भी आधुनिक दौड़ में महिलाएँ जीवन के हर क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है । भारत कृषि प्रधान देश है और यहाँ के लागों के आजिविका का मुख्य स्त्रोत कृषि है । अँग्रेजी में फार्मर या हिन्दी में किसान शब्द में किसान शब्द का उच्चारण करने पर लोगों की सोच में पुरूष का चेहरा ही उभरता है । शब्दों की रचना करनेवालों से लेकर नीति–निर्माताओं तक ने कृषि क्षेत्र में जुड़ी महिलाओं के योगदान को कमतर आँका है । जबकि सच्चाई यह है कि आज कृषि का स्थिकरण हो रहा है । 1991 व 2001 जनगणना के आँकड़े बताते हैं कि इन बीते दशक में कृषि क्षेत्र में महिलाओं की संख्या में वृद्धि हुई है । इन बातों की पुष्टि निम्नलिखित आँकड़ों से हो जाती है–

1. कृषि कार्य क्षेत्र में महिलाओं की कुल भागीदारी 40 प्रतिशत है ।
2. आज की तारीख में कुल पुरुष कामगरों में 53 प्रतिशत पुरुष और महिला कामगारों में 75 प्रतिशत महिलाएँ कृषि क्षेत्र में हैं ।
3. ग्रामीण महिला कामगारों में 85 प्रतिशत महिला कृषि से जुड़ी विभिन्न काम करती है ।

इस तरह हम पाते हैं कि भारत के प्रमुख आर्थिक क्षेत्र कृषि में महिलाओं की भागीदारी कुछ कम नहीं है । परन्तु बिडंबना यह है कि कृषि क्षेत्र में संलग्न महिलाओं को पुरुष के बराबर

मेहनताना नहीं दिया जाता । समाज में उनके प्रति नजरिये में बदलाव नहीं आया है । इस तरह के शोषण के विरुद्ध महिलाओं ने आवाज उठाना शुरू कर दी । महिला प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के बराबर दर्जा प्राप्त करने हेतु गोलबंद होना शुरू किया । महिला आंदोलन इसी कड़ी का सिलसिला है ।

वास्तव में सार्वजनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्र पुरुष के कब्जे में है । यद्यपि मनुष्य जाति के आबादी में औरतों का हिस्सा आधा है पर सार्वजनिक जीवन में खासकर राजनीति में उनकी भूमिका नगण्य है । पहले सिर्फ पुरुष वर्ग को ही सार्वजनिक मामलों में भागीदारी करने, वोट देने या सार्वजनिक पदों के लिए चुनाव लड़ने की अनुमति थी । सार्वजनिक जीवन में हिस्सेदारी हेतु महिलाओं को काफी मेहनत करनी पड़ी । धीरे–धीरे राजनीति में मुद्दे उठे और महिलाओं को भी सार्वजनिक जीवन में अवसर प्राप्त होने लगा । सर्वप्रथम इंगलैंड में सन् 1918 में महिलाओं को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ । धीरे–धीरे महिलाओं के वोट का अधिकार अन्य लोकतांत्रिक देशों में प्राप्त होने लगा । वास्तव में लैंगिक विभाजन की राजनीतिक अभिव्यक्ति और इस सवाल पर राजनीति गोलबंदी ने सार्वजनिक जीवन में औरत की भूमिका को बढ़ाने में मदद की । आज हम स भी क्षेत्रों में महिलाओं की उपस्थिति देखते हैं । आज महिलाएँ वैज्ञानिक, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रबंधक, कॉलेज और विश्वविद्यालय शिक्षक जैसे पेशे में दिखाई पड़ती है । स्वीडेन, नार्वे और फिनलैंड में सार्वजनिक जीवन में महिलाओं की भागीदार का स्तर काफी ऊँचा है ।

भारत में तस्वीर अभी भी उतना संतोषजनक नहीं है । हमारा समाज अभी भी पितृ–प्रधान है । औरतों के साथ भी कई तरह के भेदभाव होते हैं । इस बात का संकेत निम्न तथ्यों से मिलता है–

1. महिलाओं में साक्षरता की दर अब भी मात्र 54 फीसदी है जबकि पुरुष में 76 फीसदी। यद्यपि स्कूली शिक्षा में कई जगह लड़कियाँ अब्बल रही है फिर भी उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाली लड़कियों का प्रतिशत बहुत ही कम है । इस संदर्भ के लिए माता–पिता के नजरिये में भी फर्क है । माता–पिता की मानसिकता बेटों पर अधिक खर्च करने की होती है । यही कारण है कि उच्च शिक्षा में लड़कियों की संख्या सीमित है ।

2. शिक्षा में लड़कियों के इसी पिछड़ेपन के कारण अब भी ऊँची तनख्वाह वाले और ऊँचे पदों पर पहुँचने वाली महिलाओं की संख्या बहुत ही कम है ।
3. यद्यपि एक सर्वेक्षण के अनुसार एक औरत औसतन रोजाना साढ़ सात घंटे से ज्यादा काम करती है, जबकि एक मर्द औसतन रोज छः घंटे ही काम करता है । फिर भी पुरुषों द्वारा किया गया काम ही ज्यादा दिखाई पड़ता है, क्योंकि उससे आमदनी होती है । हलाँकि औरतें भी ढ़ेर सारे ऐसे काम करती है जिनके प्रत्यक्ष रूप से आमदनी होती है लेकिन इनका ज्यादातर काम घर के चहार दीवारी के अंदर होती है । इसके लिए उन्हें पैसा नहीं मिलते इसलिए औरतों का काम दिखाई नहीं देता ।
4. लैंगिक पुर्वाग्रह का काला पक्ष बड़ा दुखदायी है जब भारत के अनेक हिस्से में माँ–बाप को सिर्फ लड़के की चाह होती है । लड़की को जन्म लेने से पहले हत्या कर देने की प्रवृति इसी मानसिकता का परिणाम है ।

महिलाओं का राजनीतिक प्रतिनिधित्व– औरतों के प्रति समाज के इस घटिया नजरिया के कारण ही आंदोलन की शुरूआत होने लगी । महिला आंदोलन की मुख्य माँगों में सत्ता में भागीदारी की माँग सर्वोपरी रही । औरतों ने सोचना शुरू कर दिया कि जबतक औरतों का सत्ता पर नियंत्रण नहीं होगा तबतक इस समस्या का निपटारा नहीं होगा । फलतः राजनीति गलियारों में इस बात पर बहस छिड़ गयी कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने का उत्तम तरीका यह होगा कि चुने हुए प्रतिनिधियों की हिस्सेदारी बढ़ायी जाए । यद्यपि भारत के लोकसभा में महिला प्रतिनिधियों की संख्या 59 हो गई है । फिर भी इसका प्रतिशत 11 प्रतिशत के नीचे ही है । विकसित देशों में भी विधायिका महिला प्रतिनिधियों की संख्या संतोषजनक नहीं है । ग्रेट–ब्रिटेन में 19.3 प्रतिशत महिला प्रतिनिधि है, तो संयुक्त राज्य अमेरिका इनका प्रतिशत 16.3 हैं । इसी प्रकार इटली में आज के समय महिला प्रतिनिधियों का प्रतिशत 16.1 है, तो आयरलैंड में इनका प्रतिशत लगभग 16.2 है । फ्रांस जैसे विकसित देश में महिला प्रतिनिधियों का प्रतिशत 13.9 है । पश्चिमी देशों में 70 प्रतिशत महिला वैसे परिवार से आती है जिसका परिवारित पृष्ठभूमिक राजनीति है । पिछले लोकसभा चुनाव में 40 प्रतिशत महिलाओं की परिवारिक पृष्ठभूमि अपराधिक था । परन्तु इस बार 15वीं लोकसभा चुनाव में मतदाताओं ने अपराधियों को नकार दिया । 90

प्रतिशत महिला सांसद स्नातक है (भारत में) । आज भी आम परिवार के महिलाओं को सांसद बनने का अवसर क्षीण है । महिलाओं का प्रतिनिधित्व बढ़ना लोकतंत्र के लिए शुभ है ।

विक्टर युगों ने इस संदर्भ में लिखा है–

'पुरुषों के पास दृष्टि होती है;

और स्त्रियों के पास अंतरदृष्टि ।

इसीलिए वे चीजों को;

अपेक्षाकृत अधिक दूर तक देख सकती है।

प्रश्नावली

1. `हर सामाजिक विभिन्नता सामाजिक विभाजन का रूप नहीं लेती' । कैसे ?
2. सामाजिक अंतर कब और कैसे सामाजिक विभाजनों का रूप ले लेते है ?
3. 'सामाजिक विभाजनों की राजनीति के परिणामस्वरूप ही लोकतंत्र के व्यवहार में परिवर्तन होता है' । भारतीय लोकतंत्र के संदर्भ में इसे स्पष्ट करें ।
4. सत्तर के दशक से आधुनिक दशक के बीच भारतीय लोकतंत्र का सफर (सामाजिक न्याय के संदर्भ में) का संक्षिप्त वर्णन करें ।
5. सामाजिक विभाजनों की राजनीति का परिणाम किन-किन चीजों पर निर्भर करता है ?
6. सामाजिक विभाजनों को संभालने के संदर्भ में इनमें से कौन-सा बयान लोकतांत्रिक व्यवस्था पर लागू नहीं होता ?
   (क) लोकतंत्र में राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता के चलते सामाजिक विभाजनों की छाया (Reflection) राजनीति पर भी पड़ता है ।
   (ख) लोकतंत्र में विभिन्न समुदायों के लिए शांतिपूर्ण ढ़ंग से अपनी शिकायतें जाहिर करना संभव है ।
   (ग) लोकतंत्र सामाजिक विभाजनों को हल (accomodate) करने का सबसे अच्छा तरीका है ।
   (घ) लोकतंत्र सामाजिक विभाजनों के आधार पर (on the basis of social division) समाज के विखंडन (disintegeration) की ओर ले जाता है।

7. निम्नलिखित तीन बयानों पर विचार करें–

   (क) जहाँ सामाजिक अंतर एक–दूसरे से टकराते हैं (social differences overlap), वहाँ सामाजिक विभाजन होता है ।

   (ख) यह संभव है एक व्यक्ति की कई पहचान (multiple indentities) हो।

   (ग) सिर्फ भारत जैसे बड़े देशों में ही सामाजिक विभाजन होते हैं ।

इन बयानों में से कौन–कौन से बयान सही है–

(अ) क, ख और ग (ब) क और ख (स) ख और ग (द) सिर्फ ग

8. निम्नलिखित व्यक्तियों में कौन लोकतंत्र में रंगभेद के विरोधी नहीं थे ।

   (क) किंग मार्टिन लुथर

   (ख) महात्मा गाँधी

   (ग) ओलंपिक धावक टोमी स्मिथ एवं जॉन कॉर्लेस

   (घ) जेड गुडी

9. निम्नलिखित का मिलान करें–

(क) पाकिस्तान	(अ) धर्मनिरपेक्ष
(ख) हिन्दुस्तान	(ब) ईस्लाम
(ग) इंगलैंड	(स) प्रोस्टेंट

10. भावी समाज में लोकतंत्र का जिम्मेवारी और उद्देश्य पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें ।

11. भारत में किस तरह जातिगत असमानताएँ जारी है ? स्पष्ट करें ।

12. क्यों सिर्फ जाति के आधार पर भारत में चुनावी नतीजे तय नहीं हो सकते ? इसके दो कारण बतावें ।

13. विभिन्न तरह की सांप्रदायित राजनीति का ब्योरा दें और सबके साथ एक–एक उदाहरण दें।

14. जीवन के विभिन्न पहलुओं का जिक्र करें जिसमें भारत में स्त्रियों के साथ भेदभाव है या वे कमजोर स्थिति में हैं ।

15. भारत की विधायिकाओं मं महिलाओं के प्रतिनिधित्व की स्थिति क्या है ?

16. किन्हीं दो प्रावधानों का जिक्र करें जो भारत को धर्मनिरपेक्ष देश बनाता है ?

17. जब हम लैंगिक विभाजन की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय होता है–

   (क) स्त्री और पुरुष के बीच जैविक अंतर ।

(ख) समाज द्वारा स्त्रीयों और पुरुषों को दी गई असमान भूमिकाएँ ।

(ग) बालक और बालिकाओं की संख्या का अनुपात ।

(घ) लोकतांत्रिक व्यवस्था में महिलाओं को मतदान अधिकार न मिलना ।

18. भारत में यहाँ औरतों के लिए आरक्षण की व्यवस्था है–

(क) लोकसभा (ख) विधानसभा (ग) मंत्रीमंडल (घ) पंचायती राज्य संस्थाएँ

19. सांप्रदायिक राजनीति के अर्थ संबंधि निम्न कथनों पर गौर करें । सांप्रदायिक राजनीति किस पर आधारित है–

(अ) एक धर्म दूसरे से श्रेष्ठ है ।

(ब) विभिन्न धर्मों के लोग समान नागरिक के रूप में खुशी–सुखी साथ रहते हैं

(स) एक धर्म के अनुयायी एक समुदाय बनाते हैं ।

(द) एक धार्मिक समूह का प्रभुत्व बाकी सभी धर्मों पर कायम रहने में शासन की शक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता है ।

20. भारतीय संविधान के बारे में इनमें से कौन–सा कथन सही है–

(क) यह धर्म के आधार पर भेदभाव की मनाही करता है।

(ख) यह एक धर्म को राजकीय धर्म बनाता है ।

(ग) सभी लोगों को कोई भी धर्म मानने की आजादी देता है ।

(घ) किसी धार्मिक समुदाय में सभी नागरिकों को बराबरी का अधिकार देता है ।

21. .... पर आधारित विभाजन सिर्फ भारत में है ।

22. सूची I और सूची II का मेल कराएँ

1. अधिकारों और अवसरों के मामले में स्त्री और पुरुष की बराबरी माननेवाला व्यक्ति	(क) सांप्रदायिक
2. धर्म को समुदाय का मुख्य आधार माननेवाला व्यक्ति	(ख) नारीवादी
3. जाति को समुदाय का मुख्य आधार माननेवाला व्यक्ति	(ग) धर्म निरपेक्ष
4. व्यक्तियों के बीच धार्मिक आस्था पर आधार पर भेदभाव न करनेवाला व्यक्ति	(घ) जातिवादी

*

अध्याय 2

2

सत्ता में साझेदारी की कार्यप्रणाली

परिचय

लोकतंत्र की यात्रा के क्रम में पिछली कक्षा में हमारा परिचय राजनीति की कुछ बुनियादी धारणाओं, संस्थाओं एवं लोकतंत्र के नियमों कायदों से हुआ था । अब हम सिद्धांतों एवं संस्थाओं की जगह पर अपना ध्यान राजनैतिक प्रक्रिया पर केन्द्रित करेंगे । राजनैतिक प्रक्रिया के मूल में सत्ता की साझेदारी का प्रयास होता है । अत: लोकतांत्रिक राजनीति को समझने के लिए सत्ता की साझेदारी के सरोकार ही हमारे अध्ययन के प्रमुख विषय वस्तु होंगे । इस प्रक्रिया से किस तरह लोकतंत्र विभिन्न सामाजिक समूहों को अभिव्यक्ति एवं पहचान देकर अपने आप में सन्निहित करता है, सर्वप्रथम हम इसका अध्ययन करेंगे । इसके लिए लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ सत्ता के विभाजन के विविध एवं व्यापक प्रावधान करती हैं, अध्याय के अगले हिस्से में हम इसे देखेंगे । इसी क्रम में हम सत्ता की साझेदारी की सबसे प्रभावकारी कार्य प्रणाली के रूप में संघीय शासन व्यवस्था का अध्ययन करेंगे । इस संदर्भ में भी भारतीय संघीय व्यवस्था के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष का भी विश्लेषण करेंगे । हमारे लिए यह भी जानना जरूरी होगा कि किस तरह से हमारे संविधान निर्माताओं ने भारतीय समाज की वैविध्यपूर्ण संरचना एवं सामाजिक राजनैतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता को बनाए रखने के लिए संघीय व्यवस्था में एकात्मकता की भी व्यवस्था की ।

इसके बाद हम भारत में सत्ता विकेन्द्रीकरण के सबसे निचले स्तर की व्यवस्था स्थानीय स्वशासन का अध्ययन करेंगे । इसी क्रम में बिहार में पंचायती राज पर भी एक आलोचनात्मक निगाह डालेंगे ।

पिछले अध्याय में हमने देखा कि जब जाति धर्म, रंग, भाषा आदि पर आधारित मानव समूहों को उचित पहचान एवं सत्ता में साझेदारी नहीं मिलती है तो उनके असंतोष एवं टकराव से सामाजिक विभाजन, राजनैतिक अस्थिरता, सांस्कृतिक ठहराव एवं आर्थिक गतिरोध उत्पन्न होते हैं । इसे हमने पूर्व के अध्याय में दिए गए बेल्जियम एवं श्रीलंका के उदाहरणों में स्पष्ट रूप से देखा था । हमने भारत में भी भाषा, जाति, धर्म, क्षेत्र के आधार पर संघर्ष एवं टकराव की घटनाओं का उल्लेख किया था । बेल्जियम ने अपने यहाँ के भाषायी एवं जातीय समूहों के बीच पनपते तनाव को सत्ता में साझीदार बनाकर दूर किया । इसके लिए उसने अपने संविधान में संशोधन कर कुछ विशेष प्रावधानों को शामिल किया जिससे विभिन्न भाषायी एवं जातीय समूहों को शासन में उचित प्रतिनिधित्व मिल सके । इसके विपरीत श्रीलंका में सत्ताधारी सिंहली समुदाय ने तमिल समुदाय के हितों की निरन्तर उपेक्षा की जिससे तमिलों और सिंहलियों के बीच के टकराव ने भीषण गृह युद्ध का रूप ले लिया । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच सत्ता का विभाजन उचित है क्योंकि इसमें विभिन्न सामाजिक समूहों को अभिव्यक्ति एवं पहचान मिलती है । उनके हितों एवं जरूरतों का सम्मान होता है । इससे विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच टकराव की संभावना क्षीण हो जाती है । अत: सत्ता में साझेदारी की व्यवस्था राजनैतिक समाज की एकता, अखंडता एवं वैद्यता की पहली शर्त है ।

लम्बे समय से यह मान्यता चली आ रही थी कि राजनैतिक सत्ता का बंटवारा नहीं हो सकता है । शासन की शक्ति किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह के हाथों में रहनी चाहिए । अगर शासन की शक्तियों का बंटवारा होता है तो निर्णय की शक्ति भी बिखर जाती है । ऐसी स्थिति में निर्णय लेना एवं उसे लागू कराना असम्भव होगा । लेकिन लोकतंत्र ने सत्ता विभाजन को अपना मूल आधार बनाकर इस मान्यता का खंडन कर दिया । लोकतंत्र में जनता सारी शक्तियों का स्त्रोत एवं उपभोग करने वाली होती है । लोक स्वशासन की संस्थाओं के माध्यम से अपना शासन चलाते हैं । सार्वजनिक फैसलों में सबकी भागीदारी होती है । लोकतंत्र में समाज के विभिन्न समूहों एवं विचारों को उचित सम्मान दिया जाता है । लोकतंत्र कैसे विभिन्न सामाजिक समूहों को सन्निहित करता है ।

विविधता मानव समाज का अनिवार्य गुण है । मानवीय सभ्यता के दीर्घकालीन विकास की प्रक्रिया में अनगणित तत्त्वों के प्रभाव की परिणति रंग जाति धर्म पर आधारित विभिन्न मानव समूहों के निर्माण में होती है । इन विभिन्न मानव समूहों के विचारों हितों आकांक्षाओं और मान्यताओं में अन्तर होता है । अतः विभिन्न मानव समूहों की इच्छाओं, पसंद, हितों एवं जरूरतों के बीच अपनी पहचान एवं पोषण के लिए प्रतिद्वदिंता एवं संघर्ष स्वाभाविक रूप से चलता है । इसके साथ इन विभिन्नताओं के बावजूद विभिन्न मानव समूहों की प्रकृति एवं आवश्यकता समाज में साथ रहने की अनिवार्यता होती है । अतः ऐसे संघर्ष को सुलझाने के लिए तथा इस प्रतिस्पर्द्धा को सहयोग में बदलने के लिए विशेष कार्य प्रणाली की आवश्यकता महसूस की जाती है । यह कार्य प्रणाली है सत्ता में साझेदारी की कार्य प्रणाली सबकी सहमति की प्रणाली । अगर इन विभिन्न मानव समूहों के बीच के प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष को शक्ति एवं हिंसा के बल पर सुलझाने की कोशिश करते हैं तो जिस समूह के पास ताकत होगी वह दूसरे समूह को दबा देगा । उसकी इच्छाओं एवं हितों का सम्मान नहीं करेगा । कमजोर समूह को शक्तिशाली समूह की बात माननी होगी । लेकिन इससे उनमें असंतोष एवं आक्रोश पैदा होगा । ऐसी स्थिति में विभिन्न समूह ज्यादा समय तक साथ नहीं रह पाएँगे । विभिन्न समूहों को साथ रखने के लिए एक ऐसी राजनैतिक व्यवस्था या कार्य प्रणाली की जरूरत होती है, जिसमें सभी स्थायी रूप से विजेता या पराजित नहीं हो । वैध शासन व्यवस्था वही है जिसमें सभी व्यक्ति अपनी भागीदारी के माध्यम से शासन व्यवस्था से जुड़ते हैं । लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था ही एकमात्र ऐसी शासन व्यवस्था हैं जिसमें ताकत सभी के हाथों में होती हैं, सभी को राजनैतिक शक्तियों में हिस्सेदारी या साझेदारी करने की व्यवस्था की जाती है । गैर लोकतांत्रिक सरकारें जैसे राजशाही, तानाशाही या एक दलीय शासन व्यवस्था जैसी अन्य व्यवस्थाओं में सभी नागरिकों के सत्ता में साझेदारी की जरूरत, व्यवस्था एवं सम्भावना नहीं होती हैं । गैर लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ आमतौर पर अपनी अन्दरूनी समाजिक समूहों और उनमें व्याप्त विभिन्नताओं, अन्तरों, मतभेदों की या तो उपेक्षा करती हैं या उन्हें दबा देती हैं जबकि लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ अपने अन्दर के विभिन्न समूहों के बीच प्रतिद्वंदिताओं एवं सामाजिक विभाजनों को संभालने की प्रक्रिया विकसित कर लेती हैं । जिससे इन टकरावों के विस्फोटक रूप लेने की आशंका क्षीण हो जाती है ।

कोई भी समाज अपने में व्याप्त विविधताओं और विभिन्नताओं को स्थायी तौर पर खत्म नहीं कर सकता है, पर इन अन्तरों, विभेदों और विविधताओं का आदर करने के लिए उन्हें सत्ता में साझीदार बनाकर समाज में सहयोग, सामंजस्य एवं स्थायित्व का सृजन किया जा सकता है। इस कार्य के लिए लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ सबसे अच्छी होती हैं क्योंकि आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में सत्ता की साझेदारी के बहुत सारे प्रावधान किए जाते हैं ।

आइए अब देखें कि लोकतंत्र में यह काम कैसे होता है ।

लोकतंत्र में विभिन्न सामाजिक समूहों जैसे भाषायी, धार्मिक एवं अन्य समूहों के बीच सत्ता का बँटवारा होता है । बेल्जियम के सामुदायिक सरकार में फ्रेंच और डच भाषी मंत्रियों की समान संख्या इस बात का उदाहरण है । विश्व में बहुत सारे संविधान में सामाजिक रूप से कमजोर समुदाय एवं महिलाओं को विधायिका एवं प्रशासन में हिस्सेदारी देने के लिए विशेष व्यवस्था की गई है । हमारा भारतीय संविधान भी इनमें से एक है जहाँ महिलाओं की सत्ता में साझेदारी सुनिश्चित करने के लिए बहुत सारे विशेष प्रावधान किए गए हैं । इसी तरह से हमारे संविधान में अल्पसंख्यकों एवं कमजोर समुदाय के लोगों के लिए भी विशेष व्यवस्था की गई है ।

लोकतंत्र में व्यापारी, उद्योगपति, किसान, शिक्षक, औद्योगिक मजदूर जैसे संगठित हित समूह सरकार की विभिन्न समितियों में प्रतिनिधि बनकर सत्ता में भागीदारी करते हैं या अपने हितों के लिए सरकार पर अप्रत्यक्ष रूप से दवाब डालकर उनके फैसलों को प्रभावित कर सत्ता में अप्रत्यक्ष रूप से हिस्सदारी करते हैं । ऐसे विभिन्न समूह जब सक्रिय हो जाते हैं तब किसी एक समूह का समाज के ऊपर प्रभुत्व कायम नहीं हो सकता है । यदि कोई एक समूह सरकार के ऊपर अपने हित के लिए नीति बनाने के लिए दवाब डालता है तो दूसरा समूह उसके प्रतिकार में दवाब डालता है कि नीतियाँ इस तरह से न बनाई जाए । सरकार को भी ऐसे में पता चलता है कि समाज के विभिन्न वर्ग क्या चाहते हैं तथा उन्हें सत्ता में कैसे और कितनी मात्रा में हिस्सेदार बनाया जाए ।

राजनीतिक दल सत्ता में साझेदारी का सबसे जीवंत स्वरूप है । राजनीतिक दल सत्ता के बँटवारे के वाहक से मोलतोल करनेवाले सशक्त माध्यम होते हैं ।

राजनीतिक दल लोगों के ऐसे संगठित समूह है जो चुनाव लड़ने और राजनैतिक सत्ता हासिल करने के उद्देश्य से काम करता है । अत: विभिन्न राजनैतिक दल सत्ता प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्द्धा के रूप में काम करते हैं । उनकी आपसी प्रतिद्वंदिता यह निश्चित करती है कि सत्ता हमेशा किसी एक व्यक्ति या संगठित व्यक्ति समूह के हाथ में न रहे । अगर हम राजनैतिक दलों के इतिहास पर गौर करें तो पता चलता है कि सत्ता बारी–बारी से अलग–अलग विचारधाराओं और समूहों वाले राजनीतिक दलों के हाथ में आती जाती रहती है ।

सत्ता की साझेदारी का प्रत्यक्ष रूप तब भी दिखता है जब दो या दो से अधिक दलें मिलकर चुनाव लड़ती है या सरकार का गठन करती है । इसलिए सत्ता की साझेदारी का सबसे अद्यतन रूप गठबंधन की राजनीति या गठबंधन की सरकारों में दिखता है, जब विभिन्न विचारधाराओं, विभिन्न सामाजिक समूहों और विभिन्न क्षेत्रीय और स्थानीय हितों वाले राजनीतिक दल एक साथ एक समय में सरकार के एक स्तर पर सत्ता में साझेदारी करते हैं ।

लोकतंत्र में विभिन्न हितों एवं नजरिये की अभिव्यक्ति संगठित तरीके से राजनीतिक दलों के अलावा जनसंघर्ष एवं जनआंदोलन के द्वारा भी होती है । दवाब समूह के समान इस संघर्ष एवं आंदोलन में कई तरह के हित समूह शामिल होते हैं या यह भी हो सकता है कि वे कुछ हितों की बजाय सर्वमान्य हितों के लिए संघर्ष कर रहे हों ।

नेपाल में राजशाही अर्थात् सत्ता के एकाधिकार की व्यवस्था के अंत तथा सत्ता जन निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथ में सौपने के लिए आंदोलन, बोलिविया का जलयुद्ध, महिलाओं के लिए आरक्षण की सुविधाओं के लिए संघर्ष, सूचना के अधिकार का आंदोलन ये सभी सत्ता में साझेदारी के प्रयत्न के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष उदाहरण हैं ।

लोकतंत्र में सरकार की सारी शक्ति किसी एक अंग में सीमित नहीं रहती है बल्कि सरकार के विभिन्न अंगों के बीच सत्ता का बँटवारा होता है । यह बँटवारा सरकार के एक ही स्तर पर होता है । उदाहरण के लिए सरकार के तीनों अंगों–विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के बीच सत्ता का बँटवारा होता है और ये सभी अंग एक ही स्तर पर अपनी–अपनी शक्तियों का प्रयोग करके सत्ता में साझीदार बनते हैं । सत्ता के ऐसे बँटवारे से किसी एक अंग के पास सत्ता

का जमाव और एवं उसके दुरुपयोग की संभावना खत्म हो जाती है । साथ ही हरेक अंग एक दूसरे पर नियंत्रण रखता है । इसे नियंत्रण और संतुलन' की व्यवस्था भी कहते हैं । विश्व के बहुंत सारे लोकतांत्रिक देशों जैसे– अमेरिका, भारत आदि में यह व्यवस्था अपनाई गई है ।

सरकार के एक स्तर पर सत्ता के ऐसे बँटवारे को हम सत्ता का क्षैतिज वितरण कहते हैं ।

सत्ता में साझेदारी की दूसरी कार्यप्रणाली में सरकार के विभिन्न स्तरों पर सत्ता का बँटवारा होता है । सत्ता के ऐसे बँटवारे को हम सत्ता का उर्ध्वाधार वितरण कहते हैं ।

इस तरह की व्यवस्था में पूरे देश के लिए एक सामान्य सरकार होती है । प्रांतीय और क्षेत्रीय स्तर पर अलग सरकारें होती है । दोनों के बीच सत्ता के स्पष्ट बँटवारे की व्यवस्था संविधान या लिखित दस्तावेज के द्वारा की जाती है । केन्द्रिय, राज्य या क्षेत्रीय स्तर की सरकारों से नीचे की स्तर की सरकारों के बीच भी सत्ता का बँटवारा होता है इसे हम स्थानीय स्वशासन के नाम से जानते हैं ।

सत्ता के इस बँटवारे को आमतौर संघवाद के नाम से जाना जाता है । यह आधुनिक लोकतंत्र में सत्ता की साझेदारी की कार्यप्रणाली का सबसे लोकप्रिय स्वरूप है । संघीय शासन व्यवस्था एकात्मक शासन व्यवस्था के उलट है जिसमें शासन का एक ही स्तर होता है, बाकी इकाइयाँ उसके अधीन काम करती है । प्रांतीय इकाइयों को केन्द्र सरकार के आदेशों का पालन करना पड़ता है ।

हम संघीय शासन व्यवस्था की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से अंकित कर सकते हैं-

- संघीय शासन व्यवस्था में सर्वोच्च सत्ता केन्द्र सरकार और उसकी विभिन्न आनुसंगिक इकाइयों के बीच बँट जाती है ।
- संघीय व्यवस्था में दोहरी सरकार होती है एक केन्द्रीय स्तर की सरकार जिसके अधिकार क्षेत्र में राष्ट्रीय महत्त्व के विषय होते हैं दूसरे स्तर पर प्रांतीय या क्षेत्रीय सरकारें होती हैं जिनके अधिकार क्षेत्र में स्थानीय महत्त्व के विषय होते हैं ।

- प्रत्येक स्तर की सरकार अपने क्षेत्र में स्वायत होती है और अपने–अपने कार्यों के लिए लोगों के प्रति जवाबदेह या उत्तरदायी होती है ।
- अलग–अलग स्तर की सरकार एक ही नागरिक समूह पर शासन करती है ।
- नागरिकों की दोहरी पहचान एवं निष्ठाएँ होती है वे अपने क्षेत्र के भी होते हैं और राष्ट्र के भी । जैसे कि हममें से कोई बिहारी, बंगाली और मराठी होने के साथ–साथ भारतीय भी होता है ।
- दोहरे स्तर पर शासन की विस्तृत व्यवस्था एक लिखित संविधान के द्वारा की जाती है ।
- विभिन्न स्तरों की सरकारों के अधिकार संविधान में स्पष्ट रूप से लिखे रहते हैं । इसलिए यह दोनों सरकारों के अधिकारों और शक्तियों का मूल स्त्रोत होता है ।
- संविधान के मूल प्रावधानों को किसी एक स्तर की सरकार अकेले नहीं बदल सकती है। इसके लिए दोनों स्तरों की सरकारों की सहमति एवं विशेष प्रक्रिया अपनायी जाती है ।
- एक स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था की जाती है । संविधान एवं विभिन्न स्तरों की सरकारों के अधिकारों की व्यवस्था करने का भी अधिकार होता है तथा यह केन्द्र और और राज्य सरकारों के बीच अधिकारों और शक्ति के बँटवारे के संबंध में उठनेवाले कानूनी विवादों को भी हल करता है ।

संघीय व्यवस्था का गठन– संघीय व्यवस्था आमतौर पर दो तरीकों से गठित होती है ।

कई बार कई स्वतंत्र और संप्रभु राज्य आपस में मिलकर सामान्य संप्रभुता को स्वीकार कर एक संघीय राज्य का गठन करते हैं । संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विटजरलैंड, आस्ट्रेलिया इस तरह से गठित संघीय राज्य के उदाहरण हैं ।

आमतौर पर इस तरीके से गठित संघीय व्यवस्था में राज्यों की स्वायत्तता या पहचान की भावना प्रबल होती है, अतः संघ में शामिल होनेवाले राज्यों के अधिकार समान होते हैं । वे केन्द्र

सरकार की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं क्योंकि इस तरह से गठित संघीय व्यवस्था में आमतौर पर अवशिष्ट अधिकार राज्यों के हिस्से में आते हैं ।

इसके विपरीत जब किसी बड़े देश को अनेक राजनैतिक इकाईयों में बाँटकर वहाँ स्थानीय या प्रांतीय सरकार और केन्द्र में अन्य सरकार की व्यवस्था की जाती है तब भी संघीय सरकार की स्थापना होती है । राज्यों और राष्ट्रीय सरकारों के बीच सत्ता का बँटवारा किया जाता है । भारत, बेल्जियम और स्पेन में संघीय शासन व्यवस्था की स्थापना इसी तरह से की गई है ।

इस तरह से गठित संघीय व्यवस्था में राज्यों की अपेक्षा केन्द्र सरकार ज्यादा शक्तिशाली होती है । इसमें अवशिष्ट अधिकार केन्द्र सरकार को दिए जाते हैं ।

विभिन्न राज्यों को समान अधिकार दिए जाते हैं, लेकिन अक्सर इस व्यवस्था में जरूरत के मुताबिक किसी राज्य को विशेष अधिकार दिए जाते हैं जैसा कि भारतीय संघ में जम्मू कश्मीर, अरुणाचल प्रदेश, सिक्किम आदि राज्यों को विशेष अधिकार दिए गए हैं ।

इस प्रकार संघीय शासन व्यवस्था दोहरे उद्देश्य को लेकर चलती है क्षेत्रीय एवं अन्य विविध ताओं का आदर करना और देश की एकता की सुरक्षा करना, उसे बढ़ाव देना । इसलिए संघवाद में निश्चित और कठोर नियम नहीं होते हैं । शासन के सिद्धांत के रूप में संघवाद भिन्न परिस्थितियों में भिन्न रूप ग्रहण करता है । उदाहरण के लिए संघीय शासन व्यवस्था की शुरूआत अमेरिका से हुई लेकिन जब दूसरे देशों में इसे अपनाया गया तब इसका स्वरूप भिन्न हो गया जैसे कि जर्मनी, भारत और स्विटजरलैंड की संघीय व्यवस्था अमेरिका से भिन्न है ।

केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन हर संघीय सरकार में वहाँ के ऐतिहासिक अनुभव सामाजिक एवं राजनैतिक जरूरतों के हिसाब से होता है । यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि संघ की स्थापना किन ऐतिहासिक संदर्भों में हुई है ।

इस प्रकार संघीय शासन व्यवस्था दोहरे उद्देश्य को लेकर चलती है– क्षेत्रीय एवं अन्य विविधताओं का आदर करना तथा राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता की रक्षा करना एवं उसे बढ़ावा देना ।

आइए अब देखें कि किस तरह से संघीय व्यवस्था राष्ट्रीय एकता के मूल्यों के संवर्धन में सहायक है । सर्वप्रथम हम अपने देश भारत के परिदृश्य में ही परखने की कोशिश करेंगे ।

भारत भौगोलिक दृष्टिकोण से काफी विशाल एवं जाति, धर्म, भाषा संस्कृति के दृष्टिकोण से विविधताओं से भरा हुआ देश है । यहाँ बीस प्रमुख एवं सैकड़ों अन्य भाषाएँ बोली जाती हैं।

ऐसे देश में अगर हमें एक लोकतांत्रिक व्यवस्था अपनानी थी तो इन विविधताओं को पहचान कर मान्यता देने की आवश्यकता था । विभिन्न क्षेत्रों और भाषा भाषी लोगों की सत्ता में सहभागिता की व्यवस्था करनी थी ताकि लोगों को स्वशासन का अवसर मिले । इसके लिए शासन की शक्तियों को स्थानीय और केन्द्रीय सरकारों के बीच बाँटने की आवश्यकता थी । यह संघीय शासन–व्यवस्था में ही संभव था । भारत बहुत लंबे समय तक विदेशी शासन के अधीन रहा । अत: सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टिकोण से भी यह बहुत सक्षम नहीं था । अगर भारत के छोटे–छोटे कई राज्य में एकात्मक सरकार की स्थापना की जाती तो संभवत: वे साम्राज्यवादी शक्तियों से अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे ।

इसके अलावा, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 ने भारत में मौजूद उस समय 563 देशी रियासतों को यह अधिकार दिया था कि वे भारत या पाकिस्तान में से किसी एक में शामिल हो या फिर स्वतंत्र रहें । ऐसी स्थिति में बड़ी संख्या में देशी रियासतें भारत में तभी शामिल हो सकती थीं जब देश में संघीय शासन स्थापित हो ।

भारत में संघवाद का विकास

स्वाधीनता आंदोलन के दौरान राष्ट्रीय संघर्ष का नेतृत्व करनेवाली काँग्रेस पार्टी शुरू से ही संघीय व्यवस्था की समर्थक रही । उनका अपना संगठनात्मक ढ़ाँचा भी इसी आधार पर किया गया था । 1946 में गठित संविधान सभा का आधार भी संघवाद था क्योंकि इसमं प्रांतों के प्रतिनिधि वहाँ की विधान सभा द्वारा संप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली के द्वारा चुने गए थे और देशी रियासतों के अधिकतर प्रतिनिधि को उनके शासकों ने नामजद किया था ।

इस तरह से विविधता को मान्यता देने के साथ राष्ट्रीय एकता के मूल्यों के संवर्धन के लिए संघीय शासन व्यवस्था की स्थापना की गई ।

भारत में संघीय शासन व्यवस्था

आइए देखते हैं कि हमने ऊपर जिन संघीय विशेषताओं का जिक्र किया है वे सभी भारतीय शासन व्यवस्था में मौजूद हैं या नहीं–

- संघीय व्यवस्था की सबसे पहली शर्त के रूप में भारतीय संविधान में दो तरह की सरकारों की व्यवस्था की गई है– एक संपूर्ण राष्ट्र के लिए जिसे संघीय सरकार या केन्द्रीय सरकार कहते हैं और दूसरी प्रत्येक प्रांतीय इकाई या राज्य के लिए सरकार जिसे हम प्रांतीय या राज्य सरकार कहते हैं ।
- संविधान में स्पष्ट रूप से केन्द्र और राज्य सरकार के कार्य क्षेत्र और अधिकार को बाँटा गया है । विधायी अधिकारों को तीन सूचियों में उल्लिखित किया गया है ।
- संघ सूची में पूरे देश के लिए महत्त्व रखने वाले विषयों यथा प्रतिरक्षा, विदेशनीति, संचार साधन, मुद्रा बैंकिंग आदि विषय रखे गए हैं । इन पर कानून बनाने का अधिकार सिर्फ केद्र सरकार को है ।
- स्थानीय महत्त्व के विषयों यथा जेल, स्वास्थ्य, शिक्षा पुलिस आदि को राज्य सूची में रखा गया है । इनपर सिर्फ राज्य सरकार कानून बना सकती है ।
- केन्द्र और राज्य दोनों के लिए महत्त्व रखनेवाले विषयों को समवर्त्ती सूची में रखा गया है। इन विषयों पर केन्द्र और राज्य सरकार दोनों ही कानून बना सकती है लेकिन जब एक ही विषय पर केन्द्र और राज्य सरकार दोनों कानून बनाते हैं या दोनों के द्वारा बनाए गए कानूनों में टकराव हो तब केन्द्र सरकार द्वारा बनाया कानून ही मान्य होता है ।
- जो विषय इन तीनों सूचियों में नहीं आते हैं, वैसे अवशिष्ट या बचे हुए विषयों पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्र सरकार को दे दिया गया है ।

- जैसा कि पहले भी कहा गया है कि अधिकतर संघीय व्यवस्था में साझी इकाईयों को बराबर अधिकार नहीं मिलते हैं । भारतीय संघ में भी कुछ राज्य को विशेषाधिकार प्राप्त है । जैसे कि भारत में जम्मू–कश्मीर को विशेष दर्जा प्राप्त है । उसका अपना संविधान है, बिना उसकी सहमति के भारतीय संविधान के कई प्रावधानों को वहाँ लागू नहीं किया जा सकता है । उसके स्थानीय निवासियों के अतिरिक्त कोई भारतीय नागरिक वहाँ जमीन या मकान नहीं खरीद सकता है आदि । भारत के कई अन्य राज्यों जैसे अरुणाचल, सिक्किम, मणिपुर आदि के लिए भी कुछ विशेष प्रावधान किए गए हैं । कई ऐसे क्षेत्र हैं– वो अपने भौगोलिक आकार या अन्य कारणवश स्वतंत्र प्रान्त नहीं बन सकते और इन्हें किसी मौजूदा प्रांत में विलय करना भी संभव नहीं होता है, इन क्षेत्रों का शासन चलाने का अधिकार केन्द्र सरकार को दे दिया जाता है, अतः इन्हें केन्द्र शासित प्रदेश कहा जाता है, चंडीगढ़, लक्षद्वीप, दिल्ली जैसे क्षेत्र इसी तरह के हैं ।

- भारतीय संविधान को कठोर बनाया गया है, ताकि केन्द्र और राज्य के बीच अधिकारों के बँटवारे में आसानी से एवं राज्यों की सहमति के बिना फेर बदल नहीं किया जा सके ।

ऐसे किसी भी बदलाव को संसद के दोनों सदनों में दो तिहाई बहुमत से स्वीकृति मिलनी आवश्यक होती है फिर उसे कम–से–कम आधे राज्यों की विधान सभाओं से मंजूर कराना आवश्यक होता है ।

- स्वतंत्र एवं सर्वोच्च न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है जिसे संविधान की व्याख्या, केन्द्र और राज्य के झगड़े–निपटाने के साथ केन्द्र और राज्य सरकार के द्वारा बनाए गए कानूनों की जाँच करने उन्हें संविधान के विरुद्ध या गैर कानूनी घोषित करने की भी शक्ति प्राप्त होती है ।

- सरकार चलाने एवं अन्य जिम्मेवारियों के निर्वहन के लिए जरूरी राजस्व की उगाही के लिए केन्द्र एवं राज्यों को कर लगाने एवं संसाधन जुटाने का अधिकार प्राप्त है ।

संघीय व्यवस्था का कार्यान्वयन

ऊपर हमने भारतीय संघीय व्यवस्था के संवैधानिक एवं संस्थागत प्रावधानों की चर्चा की लेकिन संघीय व्यवस्था के कार्यकरण के लिए लिखित संवैधानिक प्रावधान ही पर्याप्त नहीं होते हैं । संघीय सिद्धांतों का कार्यान्वयन राजनैतिक संस्कृति विचारधारा, इतिहास की वास्तविकताओं से निर्देशित होता है । अगर संघीय इकाइयों में आपसी विश्वास, सहयोग, सम्मान और संयम की संस्कृति रहती है तो संघीय व्यवस्था का कार्यान्वयन आसानी से होता है । राजनैतिक दलों की उपस्थित, सत्ता में साझेदारी के उनके प्रयत्न एवं व्यवहार से भी संघीय व्यवस्था की सफलता या असफलता निर्धारित होती है । यदि कोई इकाई प्रांत, भाषायी, समुदाय या विचारधारा सत्ता पर एकाधिकार चाहती है या उसके लिए प्रयत्नशील होती है तो अन्य इकाइयाँ या प्रांत या भाषायी अन्य समुदाय जो इस प्रयत्न में साथ नहीं है या जिनपर यह सत्ता थोपी जा रही है, या सत्ता में साझेदार के रूप में उनकी अनदेखी की जा रही है, उनमें विरोध, असंतोष पनपता है । ऐसी स्थिति में नाराज इकाइयाँ विरोध प्रदर्शन करती है, अलग होने की माँग कर सकती है, हिंसा का सहारा ले सकती है । नौबत गृहयुद्ध और विघटन तक जा सकती है । विश्व के बहुत सारे देशों को इस तरह के अनुभवों से गुजरना पड़ा है ।

आइए अब विश्व के कुछ ऐसे देशों का उदाहरण लेते हैं जहाँ क्षेत्रीय भाषायी विविधताओं को सम्मान देने के लिए संघीय व्यवस्था अपनायी गई लेकिन सत्ता में साझेदारी के प्रभावकारी साधन के रूप में यह संघीय व्यवस्था कितनी कारगर सिद्ध हुई इसका विश्लेषण करें ।

सोवियत समाजवादी गणराज्यों का संघ विश्व की एक महान शक्ति के रूप में उभरा लेकिन 1989 के बाद अनेक स्वतंत्र राष्ट्रों में उसका विघटन हो गया ।

सोवियत संघ के विघटन का प्रमुख कारण वहाँ शक्तियों का जमाव एवं अत्यधिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ थी । सोवियत राजनैतिक प्रणाली की धूरी में साम्यवादी दल था । इसने उजबेकिस्तान तथा अन्य भिन्न भाषा संस्कृति वाले क्षेत्रों की आकांक्षाओं, हितों की अनदेखी तथा उनपर रूसी आधिपत्य के प्रयत्न ने भी विघटनकारी प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया । अन्य राष्ट्रीयताओं और जातीयताओं को शिकायत भी कि संघ के सबसे बड़े गणराज्य रूस की भाषा एवं संस्कृति

उनपर थोपी जा रही थी । सत्ता की हिस्सेदारी में रूसी मूल के नागरिकों की प्रधानता थाी । 1986 में रूसी यद्यपि पूरी आबादी के 52 प्रतिशत थे लेकिन तत्कालीन केन्द्रीय समिति में 85 प्रतिशत सचिव, केन्द्रीय संत्रिमंडल में 85 प्रतिशत सदस्य तथा सेना में 88 प्रतिशत रूसी उच्च शिखरों पर मौजूद थे । विभिन्न गणराज्यों में रूसी नागरिकों की संख्या न सिर्फ बढ़ रही थी वरन् वह स्थानीय लोगों की अपेक्षा अधिक नगरीय एवं समृद्ध थी ।

वेस्टइंडिज संघवाद

वेस्टइंडिज में 1958 में वेस्टइंडिज संघ की स्थापना की गई । लेकिन केन्द्रीय सरकार की कमजोरी एवं संघीय इकाइयों की राजनैतिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण 1962 में यह भंग हो गई। लेकिन 1973 में चिगुआरायस संधि के द्वारा इन स्वतंत्र प्रायद्वीपों ने एक साझी संसद, सर्वोच्च न्यायालय, मुद्रा और केरीबियन समुदाय नामक साझा बाजार जैसी संयुक्त संस्थाएँ बनायी । इनकी एक साझी कार्यपालिका है और सदस्य देशों की सरकारों के प्रधान उस कार्यपालिका के सदस्य हैं । इस प्रकार वहाँ की इकाईयाँ न तो देश के रूप में रह सकी और न ही वे अलग–अलग रह सकी ।

नाइजीरिया में संघवाद

यदि किसी देश के विभिन्न क्षेत्र और समुदाय एक दूसरे पर विश्वास नहीं करते तो संघीय व्यवस्था सफल नहीं होती है, इसे हम नाइजीरियन संघीय व्यवस्था के उदाहरण से भी समझ सकते हैं । 1950 में नाइजीरिया में संघीय व्यवस्था की स्थापना की गई लेकिन नाइजीरिया की तीन बड़ी जातीय समूहों– एरूबा, इबो, हउसा फुलानी के द्वारा अपने प्रभाव को बढ़ाने के प्रयास हुए जिससे अन्य जातीय समूहों में भय एवं संघर्ष का माहौल बना और एक सैनिक शासन की स्थापना हुई। 1999 में नाइजीरिया में लोकतंत्र की दुबारा बहाली हुई लेकिन धार्मिक विभेद बरकरार रहे । नाइजीरियाई संघ के सामने यह भी समस्या बनी रही कि तेल संसाधन से प्राप्त राजस्व पर किसका नियंत्रण होगा ।

इस प्रकार नाइजीरिया की विभिन्न संघीय इकाइयों के बीच धार्मिक, जातीय और आर्थिक मतभेद बरकरार है ।

अत: गणराज्यों द्वारा सत्ता की साझेदारी में अधिक से अधिक भाग लेने के माँग के स्वर उठे लेकिन उनकी उपेक्षा ने अंततः 1989 में सोवियत संघ को विखंडित कर दिया ।

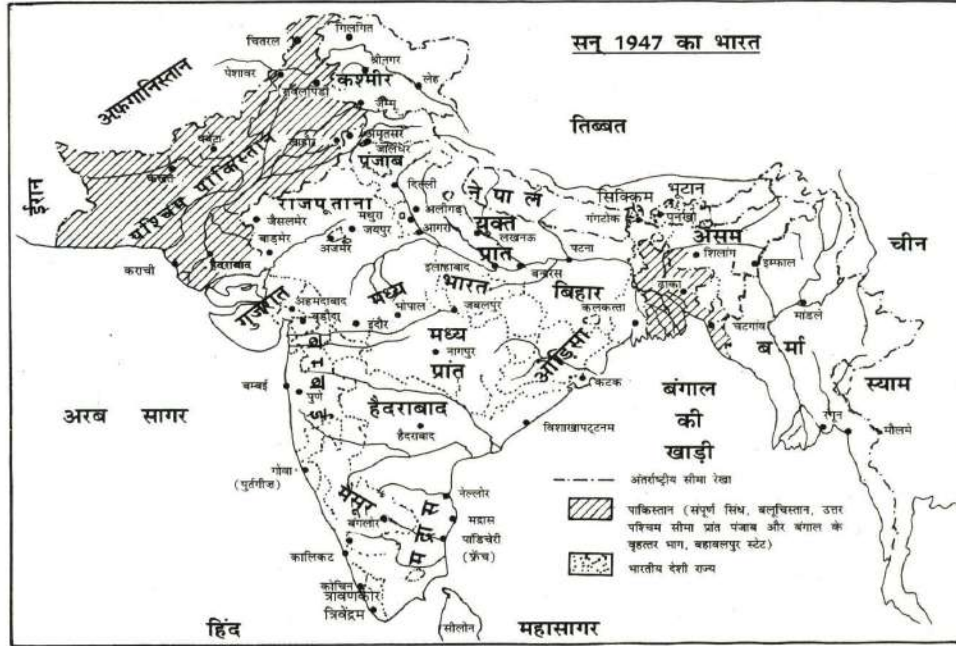
इसी तरह से कुछ अन्य राज्यों जैसे चेकोस्लोबाकिया, युगोस्लाविया और पाकिस्तान को भी देश विभाजन का दु:ख झेलना पड़ा ।

भारतीय संघ के अक्षुण्ण स्वरूप के लिए, भारतीय संघीय व्यवस्था के कार्यान्वयन का श्रेय इसके लोकतांत्रिक चरित्र को जाता है । भारतीय संघ को भी कई तनावों, समस्याओं और चुनौतियों का सामना करना पड़ा है । भारतीय लोकतंत्र ने भी अपनी विविधताओं एवं विभिन्नताओं को संभालने के लिए उन्हें सत्ता में साझीदार बनाने के लिए बहुत सारे प्रयास किए हैं । भारतीय संघीय इकाइयों का पूर्नगठन संघीय व्यवस्था को मजबूत करने के लिए किया गया । कुछ राज्यों का गठन एक भाषायी समुदाय के लोगों को एक भौगोलिक क्षेत्र के अंदर लाने के लिए किया गया तथा कुछ राज्यों का गठन सांस्कृतिक भौगोलिक अथवा जातीयता की विभिन्नता को रेखांकित करने और उन्हें आदर देने के लिए किया गया । इनमें भाषा नागालैंड, उत्तराखंड और झारखंड जैसे राज्य है ।

भाषानीति

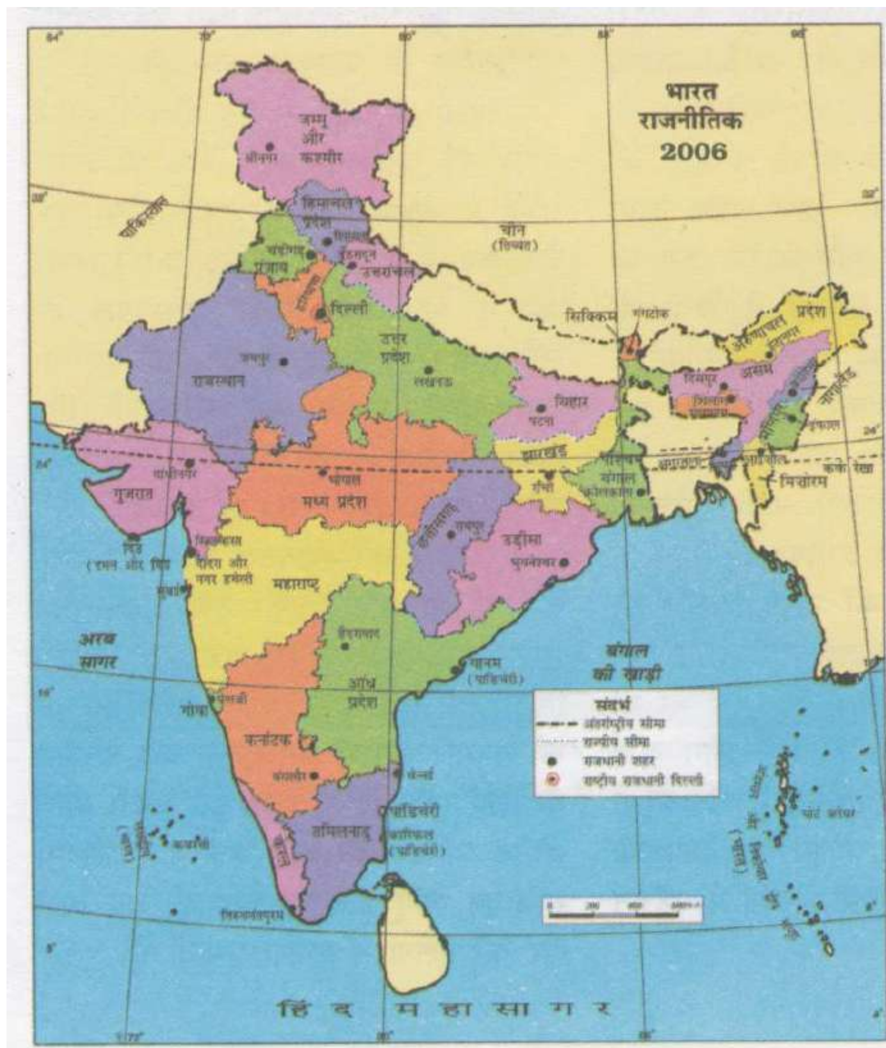
भारत में बहुत सी भाषाएँ बोली जाती है । श्रीलंका में भाषागत भेदभाव राजनैतिक अस्थिरता का बहुत बड़ा कारण रहा है । इसलिए भारतीय संविधान में हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया गया, क्योंकि यह आबादी के 40 प्रतिशत लोगों की भाषा है । इसके साथ ही अन्य भाषाओं के प्रयोग, संरक्षण एवं संवर्धन के उपाय किए गए ।

संविधान के अनुसार सरकारी काम काज की भाषा में अँगेजी के प्रयोग के निषेध के बावजूद गैर हिन्दी भाषी प्रदेशों की माँग के कारण अंग्रेजी का प्रयोग जारी रहा । तमिलनाडू, में तो इस माँग को लेकर जनआंदोलन उग्र हो उठा था । सरकार ने इस विवाद को हिन्दी के साथ-साथ अँग्रेजी को भी राजकीय कामों में प्रयोग की अनुमति देकर सुलझाया ।



चित्र : सन् 1947 का भारत

किस हद तक सत्ता का विकेन्द्रीकरण राष्ट्रीय एकता के मूल्यों में संवर्धन में सायक है– भारतीय संघ सत्ता के विकेन्द्रीकरण के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों की पहचान को मान्यता देता है फिर भी यह केन्द्र को ज्यादा शक्ति देता है । संविधान निर्माता विविधताओं को समेटने के लिए संघीय व्यवस्था की स्थापना के पक्षधर के पर विघटनकारी प्रवृतियों पर अंकुश रखने एवं सामाजिक राजनैतिक परिवर्तन को द्रुत गति से लाने के लिए वे शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की भी स्थापना करना चाहते थे और ऐसा करने में वे राज्य सरकारों से अपेक्षित सहयोग भी चाहते थे । गरीबी निरक्षरता, आर्थिक असमानता आदि कुछ ऐसी समस्याएँ भी जिनके समाधान के लिए नियोजन (planning) और समन्वय की अत्यंत आवश्यकता थी । अत: केन्द्रीय सरकार की शक्तिशाली स्थिति को हम इस तरह देख सकते हैं ।



चित्र : भारत राजनीति 2000

- किसी राज्य के अस्तित्व और उसकी भौगोलिक सीमाओं के स्थायित्व पर संसद का नियंत्रण है । वह किसी राज्य की सीमा या नाम में परिवर्तन कर सकती है । पर इस शक्ति का दुरुपयोग रोकने के लिए प्रभावित राज्य के विधानमंडल को भी विचार व्यक्त करने का अवसर प्रदान किया गया है ।

भारत की भाषायी विविधता

भारत में कितनी भाषाएँ है ? इसका जवाब इस बात पर निर्भर करता है कि आप भाषाओं की गिनती किस तरह करते हैं । इस बारे में अधिकृत नवीनतम सूचना 1991 की जनगणना के आँकड़ों से हासिल होती है । इस जनगणना में लोगों ने 1500 से ज्यादा अलग-अलग भाषाओं को अपनी मातृभाषा के रूप में दर्ज कराया था। इन भाषाओं को कुछ प्रमुख भाषाओं के साथ समूहबद्ध कर दिया जाता है । जैसे– भोजपुरी, मगही, बुंदेलखंडी, छत्तीसगढ़ी, राजस्थानी, भीली और ऐसी ही दूसरी भाषाओं को हिन्दी के अंदर जोड़ दिया जाता है। ऐसी समूहबद्धता के बाद भी जनगणना में 114 प्रमुख भाषाएँ पाई गई । इनमें से 22 भाषाओं को भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में रखा गया है और इसी कारण इन्हें अनुसूचित भाषाएँ कहा जाता है । बाकी को गैर-अनुसूचित भाषा कहते हैं । भाषा के हिसाब से भारत दुनिया का संभवत: सबसे ज्यादा विविधता वाला देश है । साथ लगी सूची को देखने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि कोई एक भाषा बहुसंख्यक भारतीयों की मातृभाषा नहीं है । सबसे बड़ी भाषा हिन्दी को भी सिर्फ 0.20 फीसदी लोगों ने इसे अपनी मातृभाषा बताया था । दूसरी या तीसरी भाषा के तौर पर 11 फीसदी लोग इसे जानते थे ।

- इस सूची को गौर से देखें लेकिन इसे याद करने की जरूरत नहीं है, सिर्फ इन कामों की कीजिए–
- इस सूचना के आधार पर बार या पाई चार्ट बनाएँ।
- भारत की भाषायी विविधताओं को दर्शाने वाला एक नक्शा बनाइए । नक्शे में विभिन्न इलाकों को अलग-अलग रंग से भरें और दिखाएँ कि उन इलाकों के लोग कौन-सी भाषा बोलते हैं ।
- ऐसी तीन भाषाएँ ढूँढें जिनको भारत में बोला तो जाता है पर जो इस सूची में नहीं है ।

भारत की अनुसूचित भाषाएँ

भाषा	बोलने वालों का अनुपात (%)
असमिया	1.6
बांग्ला	8.3
बोडो	0.1
डोगरी	0.2
गुजराती	4.9
हिंदी	40.2
कन्नड़	3.9
कश्मीरी	0.5
कोंकणी	0.2
मैथिली	0.9
मलयालम	3.6
मणिपुरी	0.2
मराठी	7.5
नेपाली	0.3
ओड़िया	3.4
पंजाबी	2.8
संस्कृत	0.01
संथाली	0.6
सिंधी	0.3
तमिल	6.3
तेलुगु	7.9
उर्दू	5.2

इस चार्ट के पहले खाने में भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में दर्ज भाषाओं को लिखा गया है । दूसरे खाने में भारत की आबादी में इस भाषा को बोलने वालों का प्रतिशत अनुपात दिया गए है । ये आँकड़े 1991 की जनगणना पर आधारित है । कश्मीरी और डोगरी के आँकड़े पर आधारित हैं क्योंकि 1991 में जम्मू-कश्मीर में जनगणना नहीं हुई थी ।

- संविधान में केन्द्र को अत्यंत शक्तिशाली बनानेवाले कुछ आपातकालीन प्रावधान है जिसके लागू होने पर वह हमारी संघीय व्यवस्था को केन्द्रियकृत व्यवस्था में बदल देते हैं । आपातकाल के दौरान शक्तियाँ कानूनी रूप से केन्द्रियकृत हो जाती है । संसद को राज्य के अधिकार क्षेत्र में आनेवाले विषयों पर भी कानून बनाने की शक्ति प्रदान हो जाती है।

- सामान्य स्थितियों में भी केन्द्र सरकार को अत्यन्त प्रभावी वित्तीय शक्तियाँ एवं उत्तरदायित्व प्राप्त है । आय के प्रमुख संसाधनों पर केन्द्र का नियंत्रण है । केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त योजना आयोग राज्यों के संसाधनों एवं इनके प्रबंध की निगरानी करता है । इसके अलावा केन्द्र सरकार अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग कर राज्यों को ऋण एवं अनुदान देती है ।
- राज्यपाल राज्य विधानमंडल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति की मंजूरी के लिए तथा राज्य सरकार को हटाने तथा विधानसभा भंग करने की सिफारिश भी राष्ट्रपति को भेज सकता है ।
- विशेष परिस्थिति में केन्द्र सरकार राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है ।
- भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था इकहरी है । इसमें चयनित पदाधिकारी राज्यों के प्रशासन का कार्य करते हैं लेकिन राज्य न तो उनके विरूद्ध कोई अनुशासनात्मक कारवाई कर सकता है, न ही उन्हें सेवा से हटा सकते हैं ।
- संविधान के दो अनुच्छेद 33 एवं 34 संघ सरकार की शक्ति के उस स्थिति में काफी बढ़ा देते हैं जब देश के किसी क्षेत्र में 'सैनिक शासन' लागू हो । संसद को अधिकार मिल जाता है कि ऐसी स्थिति में वह केन्द्र या राज्य के किसी अधिकारी के द्वारा शांति व्यवस्था बनाए रखने या उसकी बहाली के लिए किए गए किसी कार्य को कानूनन जायज करार दे सके। इस तरह से हम देखते हैं कि भारतीय संविधान ने कुछ विशेष प्रावधानों के द्वारा केन्द्रीकृत व्यवस्था लागू करके तथा शक्तिशाली केन्द्र के द्वारा संघात्मकता में एकात्मकता की आत्मा को संवर्धित करने का प्रयास किया है ।

केन्द्र राज्य संबंध– संघीय व्यवस्था के तनाव एवं सहयोग । एक ओर केन्द्र शक्तिशाली स्थिति में हैं दूसरी ओर राज्यों की पहचान को भी मान्यता है । अत: केन्द्र और राज्यों

के संबंध संघीय व्यवस्था के कार्यकरण की परीक्षा के लिए एक कसौटी का काम करते हैं । काफी समय तक हमारे यहाँ एक पार्टी का केन्द्र और राज्यों में वर्चस्व रहा । इस दौरान केन्द्र राज्य संबंध सामान्य रहे । जब केन्द्र और राज्य में अलग–अलग दल की सरकार रही तो केन्द्र सरकारों ने राज्यों के अधिकारों की अनदेखी की । अत: राज्यों ने केन्दीय सरकार की शक्तियों का विरोध करना शुरू कर दिया तथा राज्यों को और स्वायत्तता एवं शक्तियाँ देने की मांग की । उन दिनों अक्सर केन्द्र सरकार संवैधानिक उपबन्धों का दुरुपयोग कर विपक्षी दलों की राज्य सरकार को भंग कर देती थी । 1980 के दशक में केन्द्रीय सरकार ने जम्मू एवं आंध्र की निर्वाचित सरकार को बर्खास्त कर दिया था । यह संघीय भावना के प्रतिकूल काम था । भारतीय संघीय व्यवस्था में राज्यपाल की भूमिका केन्द्र और राज्यों के बीच हमेशा से विवाद का विषय रही विशेषकर वैसी परिस्थिति में जब केन्द्र और राज्य में अलग–अलग दल सत्तारूढ; रहे । राज्यपाल की नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा होती है, अत: राज्यपाल के फैसलों एवं सिफारिश अक्सर राज्य सरकार के कार्यों में हस्तक्षेप के रूप में देखा जाता है ।

1990 के बाद स्थिति काफी बदली । कांग्रेस का वर्चस्व कम हुआ । केन्द्र में गठबंधन की राजनीति का उदय हुआ । जब किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला है तब प्रमुख राष्ट्रीय पार्टियों को क्षेत्रीय दलों समेत अनेक पार्टियों का गठबंधन बनाकर सरकार बनानी पड़ती है । इससे सत्ता में साझेदारी और राज्य सरकारों की स्वायत्तता का आदर करने की नयी संस्कृति पनपी है। इस प्रवृत्ति को सुप्रीम कोर्ट के एक बड़े फैसले से भी बल मिला । इस फैसले के कारण राज्य सरकार को मनमाने ढ़ंग से भंग करना केन्द्र सरकार के लिए मुश्किल हो गया ।

भारत में विकेन्द्रीकरण

भारत जैसे विशाल एवं वैविधयपूर्ण राष्ट्र में सिर्फ दो स्तरों पर सत्ता के विकेन्द्रित व्यवस्था से अच्छी तरह शासन नहीं चलाया जा सकता था । इसलिए सत्ता को तीसरे और सबसे निचले स्तर तक विकेन्द्रित करने की व्यवस्था की गई जिसके केन्द्र और राज्य से शक्तियाँ लेकर स्थानीय सरकारों को दी जाती है ।

इस तरह के विकेन्द्रीकरण के पीछे यह भावना काम करती है कि जो काम स्थानीय स्तर

पर किए जा सकते हैं वे काम स्थानीय लोगों के हाथों में ही रहने चाहिए । उन्हें स्थानीय जीवन से जुड़े मसलों, जरूरतों और विकास के बारे में फैसला लेने की प्रक्रिया से जोड़ा जा सके । स्थानीय जनता प्रादेशिक या केन्द्रीय सरकार से कहीं ज्यादा स्थानीय समस्याओं से परिचित होती है क्योंकि इसका सीधा असर उसकी रोजमर्रा की जिंदगी पर पड़ता है । स्थानीय फैसलों में भागीदारी से लोगों में लोकतांत्रिक भागीदारी की आदत पड़ जाती है ।

स्थानीय संस्थाओं की मौजूदगी ने शासन में जनता की भागीदारी के लिए व्यापक मंच एवं माहौल तैयार कर लोकतंत्र की जड़ों को मजबूत किया है । पंचायतों एवं नगरपालिकाओं में महिलाओं के लिए आरक्षण के प्रावधान के कारण स्थानीय निकायों में महिलाओं की भारी संख्या में मौजूदगी सुनिश्चित हुई है । अनुसूचित जाति एवं जनजाति के आरक्षण से सामाजिक बनावट में बदलाव आए हैं और सामाजिक, आर्थिक ताकत से वंचित लोगों को सत्ता में हिस्सेदारी देने से लोकतंत्र की सार्थकता सिद्ध हुई है ।

लेकिन इसके बावजूद बहुत सी दिक्कते हैं जिनसे स्थानीय शासन का काम काज ठीक से नहीं चल पाता है । अधिकांश राज्य सरकारों ने स्थानीय सरकारों को पर्याप्त अधिकार एवं संसाध न नहीं दिए हैं । पंचायतों के चुनाव नियमित रूप से होते हैं । लेकिन ग्राम सभाओं की बैठकें नियमित रूप से नहीं होती है । स्थानीय स्वशासन के कामकाज के पिछले दशकों के अनुभव बताते हैं कि भारत में इसे अपना कामकाज स्वतंत्रतापूर्वक करने की छूट बहुत कम है ।

बिहार में पंचायती राज व्यवस्था की एक झलक

बिहार में स्वशासन की जड़ें काफी पुरानी हैं । वैशाली का लिच्छवी गणतंत्र लोकतांत्रिक स्वशासन का अच्छा उदाहरण था । वैदिक ग्रंथों में भी सभा और समिति जैसी संस्थाओं का उल्लेख आता है । हमारे सांस्कृतिक विरासत की एक अनोखी विशेषता यह रही है कि स्थानीय प्रशासन की मूलभूत इकाई ग्राम ही रहा है । हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी भी कहा करते थे कि भारत की आत्मा गाँवों में बसती है ।

भारतीय संविधान में देश की विरासत और गाँधीवादी मूल्यों को महत्त्व देते हुए स्थानीय स्वशासन को राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों के अनुच्छेद 40 में स्थान दिया गया है । इस अनुच्छेद में राज्य को यह दायित्व सौंपा गया है कि वह ग्राम पंचायतों के गठन, उनकी शक्तियाँ और कार्य तथा उन्हें स्वायत्त शासन की इकाई के रूप में कार्य करने हेतु सक्षम बनाने के लिए कदम उठाये ।

राष्ट्रीय स्तर पर पंचायती राज्य प्रणाली की विधिवत शुरूआत बलवंत राय मेहता समिति की अनुशंसाओं के आधार पर 2 अक्टूबर 1959 को राजस्थान के नागौर जिले से हुई थी । 1959 में ही आंध्र प्रदेश में पंचायती राज व्यवस्था लागू की गई । इसके बाद देश के अन्य राज्यों में भी पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना होने लगी ।

बलवंत राय मेहता समिति ने पंचायत व्यवस्था के लिए त्रि-स्तरीय ढाँचा का सुझाव दिया–

1. ग्राम स्तर पर पंचायत
2. प्रखंड स्तर पर पंचायत समिति या क्षेत्रीय समिति
3. जिला स्तर पर जिला परिषद ।

चूँकि स्थानीय स्वशासन राज्य का विषय है इसलिए राज्यों ने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार समितियों की सिफारिशों पर पंचायती राज का गठन किया । इस दृष्टि से पंचायती राज प्रणाली में एकरूपता का अभाव है । पूरे देश में पंचायती राज व्यवस्था मं एकरूपता लाने के उद्देश्य से सन् 1991 में 73वाँ संविधान संशोधन विधेयक संसद में लाया गया जो 22-23 दिसम्बर 1992 को क्रमश: लोकसभा एवं राज्य सभा द्वारा पारित हो गया । फलत: संविधान के एक नये भाग-9 में पंचायत शीर्षक के अंतर्गत **पंचायती राज अधिनियम** को सम्मिलित किया गया। इसमें 13 अनुच्छेदों वाला एक नया अनुच्छेद 243 रखा गया है । इस संशोधन द्वारा एक नयी अनुसूची (ग्यारहवीं अनुसूची) जोड़ी गई है । इसमें 29 मुद्दों का उल्लेख है, जो पंचायती राज के क्षेत्रधिकार में आते हैं । पंचायती राज प्रणाली की स्थापना जनता में लोकतांत्रिक चेतना जागृत करने के उद्देश्य से की गई है । साथ ही, यह भी अपेक्षा है कि इससे सामाजिक परिवर्तन होगा और सामाजिक न्याय के अधूरे कार्य पूरे होंगे ।

बिहार में पंचायती राज का स्वरूप त्रिस्तरीय

(क) ग्राम पंचायत

(ख) पंचायत समिति

(ग) जिला परिषद

कार्यकाल– **पाँच वर्षीय**

(क) ग्राम पंचायत

बिहार में ग्राम पंचायत ग्रामीण क्षेत्रों की स्वायत्त संस्थाओं में सबसे नीचे का स्तर है, लकिन इसका स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । राज्य सरकार 7000 की औसत आबादी को ग्राम पंचायतों की स्थापना का आधार मानती है । एक पंचायत क्षेत्र लगभग 500 की आबादी पर वार्डों में विभक्त होता है, जिनकी संख्या सामान्तया 15–16 तक होती है । वार्ड सदस्य प्रत्येक मतदाता द्वारा चुने जाते हैं । ग्राम पंचायतों का प्रधान मुखिया होता है और उसकी सहायता के लिए एक उपमुखिया का पद सृजित किया गया है । हर पंचायत में सरकार की ओर से एक पंचायत सेवक नियुक्त होते हैं, जो सचिव की भूमिका निभाते हैं ।

प्रत्येक ग्राम पंचायत में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़े वर्ग के लिए उनकी जनसंख्या के आधार पर जगह आरक्षित करने का प्रावधान है । बिहार पंचायती राज अधिनियम 2006 के तहत महिलाओं के लिए संपूर्ण सीटों में आधा सीट अर्थात 50 प्रतिशत के आरक्षण का प्रावधान है । ग्राम पंचायतों का प्रधान मुखिया होता है । मुखिया या उपमुखिया अपने पद से स्वयं हट सकते हैं या हटाये जा सकते हैं । स्वेच्छा से हटने के लिए उन्हें **जिला पंचायती राज पदाधिकारी** को त्याग–पत्र देना पड़ता है । यदि ग्राम पंचायतों के सदस्य दो–तिहाई बहुमत से मुखिया के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करें तो मुखिया/उपमुखिया अपने पद से हटाये जा सकते हैं।

ग्राम पंचायत के सामान्य कार्य– (i) पंचायत क्षेत्र के विकास के लिए वार्षिक योजना तथा वार्षिक बजट तैयार करना, (ii) प्राकृतिक विपदा में सहायता करने का कार्य, (iii) सार्वजनिक संपत्ति से अतिक्रमण हटाना और (iv) स्वैच्छिक श्रमिकों को संगठित करना और सामुदायिक कार्यों में स्वैच्छिक सहयोग करना ।

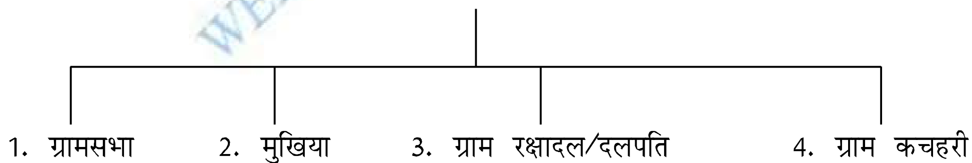
ग्राम पंचायत की शक्तियाँ– (i) संपत्ति अर्जित करने, धारण करने और उसके निपटने की तथा उसकी संविदा करने की शक्ति, (ii) करारोपण (वार्षिक कर) जेसे– जल कर, स्वच्छता कर, मेलों–हाटों में प्रबंध कर, वाहनों के निबंधन पर फीस तथा क्षेत्राधिकार में चलाए व्यवसायों नियोजनों पर कर तथा (iii) राज्य वित्त आयोग की अनुशंसा पर संचित निधि से सहायक अनुदान प्राप्त करने का अधिकार ।

ग्राम पंचायत की आय के स्त्रोत निम्नवत होंगे– (i) कर स्त्राोत– होल्डिंग, व्यवसाय, व्यापार, पेशा और नियोजन ।

(ii) **फीस और रेंट**– वाहनों का निबंधन, तीर्थ स्थानों, हाटों और मेलों, जलापूर्ति, गलियों और अन्य स्थानों पर प्रकाश, शौचालय और मूत्रालय ।

(iii) **वित्तीय अनुदान**– राज्य वित्त आयोग की अनुशंसा के आधार पर राज्य सरकार द्वारा पंचायतों को संचित निधि से अनुदान भी दिया जाता है ।

ग्राम पंचायतों के प्रमुख अंग



ग्रामसभा– यह पंचायत की व्यवस्थापिका सभा है । ग्राम पंचायत क्षेत्र में रहनेवाले सभी वयस्क स्त्री–पुरुष जो 18 वर्ष से अधिक उम्र के हैं, ग्रामसभा के सदस्य होंगे । ग्रामसभा की बैठक वर्ष भर में कम–से–कम चार बार होगी । मुखिया ग्रामसभा की बैठक बुलाएगा और इसकी अध्यक्षता करेगा ।

ग्राम रक्षादल– एक गाँव की पुलिस व्यवस्था है । इसमें 18 से 30 वर्ष के आयु वाले युवक

शामिल हो सकते हैं । सुरक्षा दल का एक नेता होता है जिसे दलपति कहते हैं । इसके ऊपर गाँव की रक्षा और शांति का उत्तरदायित्व रहता है ।

ग्राम कचहरी– यह ग्राम पंचायत की अदालत है जिसे न्यायिक कार्य दिए गए हैं । बिहार में ग्राम पंचायत की कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक–दूसरे से अलग रखा गया है । प्रत्येक ग्राम पंचायत में एक ग्राम कचहरी स्थापित की जाएगी जिसमें प्रत्यक्ष निर्वाचित एक **सरपंच** तथा इसमें प्रत्येक 500 की आबादी के हिसाब से निर्वाचित पंच होंगे । इनका कार्यकाल 5 वर्ष का होगा । **सरपंच** ग्राम कचहरी का प्रभारी होगा । ग्राम कचहरी को दिवानी एवं फौजदारी दोनों क्षेत्रों में अधिकार प्रदान किए गए हैं । **सरपंच** सभी प्रकार के अधिकतम 10 हजार तक के मामले की सुनवाई कर सकता है । ग्राम कचहरी में एक **न्याय मित्र** और एक **न्याय सचिव** भी होता है । **न्याय मित्रों** एवं न्याय सचिवों के पदों का निर्माण बिहार सरकार द्वारा किया जाए । **न्याय मित्र** सरपंच के कार्यों में सहयोग देता है, जबकि **न्याय सचिव** ग्राम कचहरी के कागजातों को रखता है ।

(ख) पंचायत समिति

पंचायत समिति **पंचायती राज व्यवस्था** का दूसरा या मध्य स्तर है । वास्तव में यह ग्राम पंचायत और जिला परिषद् के बीच की कड़ी है। बिहार में 5000 की आबादी पर पंचायत समिति के एक सदस्य को चुने जाने का प्रावधान है । इसके अतिरिक्त पंचायत समिति के क्षेत्र के अन्दर आनेवाले समिति के प्रमुख का चुनाव अप्रत्यक्ष रीति से किया जाता है । प्रमुख/उपप्रमुख के उम्मीदवार प्रत्यक्ष निर्वाचित सदस्यों में से होते हैं तथा उन्हीं के मतों से बनाए जाते हैं । प्रमुख पंचायत समिति का प्रधान अधिकारी होता है । वह समिति की बैठक बुलाता है और उसकी अध्यक्षता करता है । वह पंचायत समिति के कार्यों की जाँच–पड़ताल करता है और प्रखंड विकास पदाधिकारी पर नियंत्रण रखता है ।

प्रखंड विकास पदाधिकारी पंचायत समिति का पदेन सचिव होता है । वह प्रमुख के आदेश पर पंचायत समिति की बैठक बुलाता है । वह पंचायत समिति के निर्णयों को क्रियान्वित करता

है तथा उसके कोष से धन खर्च करता है । वह पंचायतों का निरीक्षण करता है और अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों का संपादन करता है ।

पंचायत समिति के कार्य– पंचायत समिति सभी ग्राम पंचायतों की वार्षिक योजनाओं पर विचार–विमर्श करती है तथा समेकित योजना को जिला परिषद् में प्रस्तुत करती है।

यह ऐसे कार्यकलापों का संपादन एवं निष्पादन करती है जो राज्य सरकार या जिला परिषद् इसे सौंपती है । इसके अतिरिक्त, सामुदायिक विकास कार्य एवं प्राकृतिक आपदा के समय राहत का प्रबंध करना भी इसकी महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी है ।

पंचायत समिति अपना अधिकांश कार्य स्थायी समितियों द्वारा करती है ।

(ग) जिला परिषद

बिहार में जिला परिषद् **पंचायती राज व्यवस्था** का तीसरा स्तर है । 50,000 की आबादी पर जिला परिषद् का एक सदस्य चुन जाता है । ग्राम पंचायत और पंचायत समिति के चुनाव की तरह इसमें भी अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़ी जाति और महिलाओं के लिए आरक्षण का प्रावधान है । जिला परिषद् के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत जिला की सभी पंचायत समितियाँ आती है ।

जिला परिषद् का कार्यकाल **पाँच** वर्ष का होता है । जिले की सभी पंचायत समितियों के प्रमुख इसके सदस्य होते हैं । प्रत्येक जिला परिषद् का एक **अध्यक्ष** एवं **उपाध्यक्ष** होता है। उनका निर्वाचन जिला परिषद् के सदस्य अपने सदस्यों के बीच से पंचायती राज व्यवस्था को सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाने के लिए करते हैं । प्रत्येक पाँच वर्ष के अवसान पर पंचायतों की वित्तीय स्थिति का पुनरावलोकन करने हेतु 'राज्य वित्त आयोग' का गठन किया जाता है ।

पंचायती राज संस्थानों को संवैधानिक दर्जा प्रदान होने के बाद इन्हें मनमाने तरीके से विघटित नहीं किया जा सकता है । विघटन की स्थिति में 6 माहों के अन्दर चुनाव करवाना जरूरी है । पंचायतों के लिए निर्वाचन नियमावली तैयार करवाने और पंचायतों के सभी निर्वाचनों के

संचालन, निष्पादन व नियंत्रण के लिए निर्वाचन आयोग उत्तरदायी है । पंचायतों के लिए निर्वाचन आयोग की नियुक्ति राज्यपाल करता है ।

बिहार पंचायती राज अधिनियम 2005 के द्वारा महिलाओं के लिए संपूर्ण सीटों में आधी सीट अर्थात 50 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया गया है । इसके अलावा अनुसूचित जाति एवं जनजाति एवं अत्यंत पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए भी आरक्षण की व्यवस्था की गई है ।

बिहार में नगरीय शासन-व्यवस्था

बिहार में नगरों एवं कस्बों में स्थानीय स्वशासन का एक गौरवशाली इतिहास रहा है । **मनुस्मृति** और **महाभारत** में इनका उल्लेख मिलता है । यूनानी विद्वान मेगास्थनीज ने अपनी पुस्तक **इंडिका** में मौर्य साम्राज्य की राजधानी 'पाटलीपुत्र' के नगरपालिका संगठन के बारे में विस्तार पूर्वक लिखा है । **चाणक्य** जो **चंद्रगुप्त** का प्रधानमंत्री था, उसकी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में भी 'पाटलिपुत्र' के नगर प्रशासन का वर्णन किया । स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद नगरपालिका प्रशासन का पूरी तरह से पुनर्गठन और सुधार किया गया है ।

ग्राम पंचायत की तरह नगरीय शासन-व्यवस्था बिहार में प्राचीन काल से प्रचलित रही है। भारतीय संसद ने 74वाँ संविधान संशोधन 1992 में पारित करके नगरीय शासन व्यवस्था को सर्वप्रथम सांविधानिक संशोधन 1992 में पारित कर नगरीय स्वशासन व्यवस्था को सर्वप्रथम सांविधानिक मान्यता प्रदान की है । नगरपालिका के कार्यक्षेत्र विषय संविधान की 12वीं अनुसूची में उल्लिखित है ।

अपने बिहार में कोई महानगर नहीं है, अतः हमारे राज्यों में नगरों के स्थानीय शासन के लिए निम्न तीन प्रकार की संस्थाएँ हैं-

1. नगर पंचायत,
2. नगर परिषद् तथा
3. नगर निगम ।

1. नगर पंचायत– ऐसे स्थान जो गाँव से शहर का रूप लेने लगते हैं वहाँ स्थानीय शासन चलाने के लिए **नगर पंचायत** का गठन किया जाता है । जिस शहर की जनसंख्या 12,000 से 40,000 के बीच हो वहाँ नगर पंचायत की स्थापना की जाती है । नगर पंचायत के लिए एक आवश्यक खर्च यह है कि उस शहर के व्यस्कों की तीन चौथाई जनसंख्या कृषि से भिन्न कार्य में संलग्न हो । नगर पंचायत के सदस्य वहाँ के बार्डों से मतदाताओं द्वारा सीधे चुनकर आते हैं। कुछ सदस्यों का मनोनयन राज्य सरकार द्वारा की जाती है । नगर पंचायत के सदस्यों की संख्या 10 से 37 तक होती है । सदस्यों का कार्यकाल पाँच वर्षों का होता है । नगर पंचायत का एक अध्यक्ष एवं एक उपाध्यक्ष होता है जो अपने सदस्यों के बीच से चुने जाते हैं । अध्यक्ष नगर पंचायत के सभी कार्यों को करता है । अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष उसके कार्यों का संपन्न करता है ।

2. नगर परिषद्– नगर पंचायत से बड़े शहरों में नगर परिषद् का गठन किया जाता है। वैसे शहर जिसकी जनसंख्या कम–से–कम 2,00000 से 3,00000 के बीच होती है, वहाँ नगर परिषद् की स्थापना की जाती है नगर परिषद् का गठन वेसे शहर में की जाती है जहाँ पूरी जनसंख्या का तीन चौथाई भाग अपनी आजीविका के लिए कृषि छोड़ अन्य कार्य में लगे रहते हैं । साथ ही इन शहरों में जनसंख्या का घनत्व प्रतिवर्ग किलोमीटर 400 व्यक्ति होनी चाहिए।

नगर परिषद के अंग– नगर परिषर्द के चार अंग होते हैं–

1. नगर पर्षद,
2. समितियाँ,
3. अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष तथा
4. कार्यपालक पदाधिकारी ।

1. नगर पर्षद– नगर परिषद् का एक प्रमुख अभिकरण नगर पर्षद होता है । इसके सदस्य पार्षद या कमिश्नर कहलाते हैं । इसकी सदस्य संख्या कम–से–कम दस और अधिक–से–अधिक 40 होती है । इसके अस्सी प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होत हैं और शेष 20 प्रतिशत

सदस्य मनोनित होते हैं । पार्षद का कार्यकाल 5 वर्षों का होते है । राज्य सरकार पूरी पर्षद को भंग कर सकती है । नगर पर्षद की बैठक महीने में एक बार होती है । नगर पर्षद के सदस्य अपने में से एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष का चुनाव करते हैं ।

2. समितियाँ– नगर परिषद् के कार्यों को सुचारू रूप से संचालन के लिए नगर परिषद् की कई समितियाँ होती है । समितियाँ को नगर पर्षद नियुक्त करती है । इन समितियों में 3 से 6 सदस्य होते हैं । ये समितियाँ अलग–अलग विषयों के लिए होती है, जैसे– शिक्षा समिति, जन–स्वास्थ्य समिति, वित्त समिति, अस्पताल समिति आदि । ये समितियाँ नगर परिषद् को सलाह देती हैं और बहुत से अन्य कार्यों का संपादन करती है ।

3. अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष– बिहार के प्रत्येक नगर परिषद में एक मुख्य पार्षद (अध्यक्ष) एवं उपमुख्य पार्षद (उपाध्यक्ष) होता है । इन दोनों का चुनाव नगर पर्षद के सदस्यों द्वारा होता है । इनका कार्यकाल पाँच वर्षों का होता है । किंतु इसके पहले भी इन्हें हटाया जा सकता है । नगर पार्षद नगर परिषद् का प्रधान होता है। वह उसके सभी कार्यों की देखभाल करता है । वह नगर परिषद् के नियमों को लागू करता है। मुख्य पार्षद अपने शहर का प्रथम नागरिक समझा जाता है । अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष उसके सभी कार्यों का संपादन करता है।

4. कार्यपालक पदाधिकारी– प्रत्येक नगर परिषद् में एक कार्यपालक पदाधिकारी का पद होता है । इसकी नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है । नगर परिषद् के प्रशासन को चलाने वाला यह प्रधान अधिकारी होता है। नगर परिषद् में कुछ अन्य अधिकारी तथा कर्मचारी भी होते हैं ; जैसे– स्वास्थ्य अधिकारी, शिक्षा निरीक्षक, कनीय अभियंता, टैक्स दरोगा आदि । ये सब कार्यपालक पदाधिकारी को सलाह एवं सहायता देते हैं ।

नगर परिषद् के कार्य– अब तक हमने देखा कि नगरीय शासन व्यवस्था के अंतर्गत नगर परिषद् एक महत्त्वपूर्ण इकाई है । इसीलिए नगर परिषद् को बहुत से कार्य करने पड़ते हैं । नगर परिषद् के दो तरह के कार्य हैं– अनिवार्य एवं ऐच्छिक । अनिवार्य कार्य वे हैं जिन्हें नगर परिषद् को करना जरूरी होता है। ऐच्छिक कार्य ऐसे कार्य हैं जिन्हें नगर परिषद् अपनी इच्छानुसार अथवा आवश्यकतानुसार करता है ।

नगर परिषद् के अनिवार्य कार्य निम्नलिखित हैं–

1. नगर की सफाई कराना
2. सड़कों एवं गलियों में रोशनी का प्रबंध करना
3. पीने के पानी की व्यवस्था करना
4. सड़क बनाना तथा उसकी मरम्मत करना
5. नालियों की सफाई करना
6. प्राथमिक शिक्षा का प्रबंध करना, जैसे स्कूल खोलना और उसे चलाना
7. टीके लगाने तथा महामारी से बचाव का उपाय करना
8. मनुष्यों एवं पशुओं के लिए अस्पताल खोलना
9. आग से सुरक्षा करना
10. श्मशान घाट का प्रबंध करना
11. जन्म एवं मृत्यु का निबंधन करना एवं उनका लेखा-जोखा रखना ।

ऐच्छिक कार्य–

1. नई सड़क बनाना
2. गलियों एवं नालियाँ बनाना
3. शहर के गंदे इलाके को बसने योग्य बनाना
4. गरीबों के लिए घर बनवाना
5. बिजली का प्रबंध करना
6. प्रदर्शनी लगाना
7. पार्क, बगीचा एवं अजायबघर बनाना
8. पुस्तकालय एवं वाचनालय आदि का प्रबंध करना, आदि ।

नगर परिषद के आय के स्त्रोत– नगर परिषद् विभिन्न प्रकार के कर लगाती है एवं कर

वसुलती भी है । जैसे– मकान कर, पानी कर, रोशनी कर, नाली कर, बाजार कर, मनोरंजन कर आदि । इसके अतिरिक्त नगर के बाहर से नगर में बिक्री के लिए आनेवाले समानों पर नगर परिषद् सीमा कर वसुलती है जिसे आमतौर पर चुंगी कहा जाता है।

शहर में चलने वाली बैलगाड़ी, टमटम, साइकिल, रिक्सा आदि पर भी नगर परिषद् वार्षिक कर वसूल करती है । इसके अलावे राज्य सरकार समय-समय पर अनुदान भी देती है जिसे आय के रूप में जाना जाता है ।

3. नगर निगम– जैसा कि हम जानते हैं कि राज्यों में नगरों के स्थानीय शासन के लिए तीन प्रकार की संस्थाएँ होती है । इन तीनों संस्थाओं में नगर निगम बड़े-बड़े शहरों में स्थापित की जाती है। अर्थात् जिस शहर की जनसंख्या 3 लाख से अधिक होती है वैसे शहरों में नगर निगम की स्थापना की जाती है । भारत में सर्वप्रथम 1688 ई० में मद्रास (चेन्नई) नगर निगम की स्थापना की गई । बिहार में सर्वप्रथम पटना में 1952 में नगर निगम की स्थापना की गई। प्रत्येक नगर निगम को जनसंख्या के अनुरूप कई क्षेत्रों में विभक्त किया जाता है । जिसे वार्ड कहा जाता है । नगर निगम में वार्डों की संख्या उस शहर के जनसंख्या पर निर्भर करता है । वार्डों के निर्धारण में आरक्षण के नियमों का पालन किया जाता है । जिसमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं अत्यंत पिछड़ों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की जाती है । बिहार में नगर निगम में 50 प्रतिशत स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित कर दिया गया है । बिहार में एक नगर निगम में वार्डों की न्यूनतम संख्या 37 और अधिकतम 75 हो सकती है । पटना नगर निगम में 72 वार्ड है, गया नगर निगम में 35, भागलपुर नगर निगम में 51, मुजफ्फरपुर नगर निगम एवं दरभंगा नगर निगम में 48 बिहार शरीफ नगर निगम में 46 एवं आरा नगर निगम में 45 वार्ड निर्धारित है ।

नगर निगम के प्रमुख अंग– बिहार में नगर निगम के प्रमुख अंग होते हैं–

1. निगम परिषद
2. सशक्त स्थानीय समिति
3. परामर्शदात्री समितियों
4. नगर आयुक्त

1. निगम परिषद– समूचे नगर निगम क्षेत्र को विभिन्न क्षेत्रों (वार्डों) में बाँटा जाता है । इस तरह से विभक्त प्रत्येक क्षेत्रों से उस क्षेत्र के मतदाताओं द्वारा एक–एक प्रतिनिधि निर्वाचित होकर आते हैं । इन्हें वार्ड पार्षद या वार्ड काँसिलर कहते हैं । पार्षदों का कार्यकाल 5 वर्षों का होता है । निर्वाचित सदस्यों के अलावा विशेषहितों के प्रतिनिधि करने वाले समूह जैसे– चैम्बर ऑफ कामर्स, व्यापार संघ एवं निर्बंधित स्नातक के सदस्य भी परिषद् के सदस्य होते हैं । सभी निर्वाचित सदस्यों के साथ मनोनीत सदस्य मिलकर कई सहयोजित सदस्यों का चयन करते हैं । इसके अलावे आमंत्रित सदस्यों के रूप में उस नगर निगम क्षेत्र के सांसद, स्थानीय विधायक एवं स्थानीय पार्षद होते हैं । निगम परिषद की बैठक प्रत्येक महीने होती है । निगम परिषद् का प्रमुख कार्य नियम बनाना, निर्णय लेना तथा कर (टैक्स) लगाना है ।

महापौर एवं उपमहापौर– निगम परिषद अपने सदस्यों के बीच से एक महापौर एवं उपमहापौर चुनती है । इन दोनों का कार्यकाल 5 वर्षों का होता है । महापौर निगम परिषद् का सभापति होता है तथा निगम की बैठकों की अध्यक्षता करता है । साथ ही सशक्त स्थायी समिति की भी अध्यक्षता करता है । महापौर नगर का प्रथम नागरिक माना जाता है । इस नाते वह नगर में आये अतिथियों का स्वागत नगर की ओर से करता है । महापौर की अनुपस्थिति में नगर परिषद् के सभी कार्यभार उपमहापौर संपादन करते हैं ।

2. सशक्त स्थानीय समिति– निगम परिषद् के बाद यह नगर निगम का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग होता है । महापौर एवं उपमहापौर भी इस समिति के सदस्य होते हैं । इस समिति की अध्यक्षता महापौर द्वारा की जाती है । निगम परिषद् के सभी प्रमुख कार्य सशक्त समिति द्वारा ही की जाती है । यह समिति कुछ कर्मचारियों की नियुक्ति करने के अतिरिक्त नगर आयुक्त पर भी नियंत्रण रखती है ।

3. परामर्शदात्री समितियाँ– नगर निगम में कुछ परामर्शदायी समितियाँ भी होती है, जैसे– शिक्षा समिति, बाजार एवं उद्यान समिति आदि । ये समितियाँ अपने–अपने विषयों पर निगम परिषद् को सलाह देती है ।

4. नगर आयुक्त– नगर निगम के इस पदाधिकारी की नियुक्ति बिहार सरकार द्वारा की जाती है । यह प्राय: भारतीय प्रयासनिक सेवा स्तर का पदाधिकारी होता है । नगर आयुक्त नगर निगम का मुख्य प्रशासक होता है एवं नगर के सभी कर्मचारियों के कार्यों की देखभाल करता है । नगर आयुक्त कुछ कर्मचारियों की भी नियुक्त कर सकता है । नगर आयुक्त निगम परिषद् एवं सशक्त स्थायी समिति द्वारा किये गये निर्णय के अनुरूप कार्य का संपादन करता है।

नगर निगम के प्रमुख कार्य– नगर निगम नागरिकों की स्थानीय आवश्यकता एवं सुख–सुविधा के लिए अनेक कार्य करता है । नगर निगम के कुछ प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं–

1. नगर क्षेत्र की नालियों, पेशाब खाना, शौचालय आदि निर्माण करना एवं उसकी देखभाल करना ।
2. कुड़ा कर्कट तथा गंदगी की सफाई करना ।
3. पीने के पानी का प्रबंध करना ।
4. गलियों, पूलों एवं उद्यानों की सफाई एवं निर्माण करना ।
5. मनुष्यों तथा पशुओं के लिए चिकित्सा केन्द्र की स्थापना करना एवं छुआ–छुत जैसी बिमारी पर रोक लगाने का प्रयास करना ।
6. प्रारंभिक स्तरीय सरकारी विद्यालयों, पुस्तकालयों, अजायबघर की स्थापना तथा व्यवस्था करना ।
7. विभिन्न कलयाण केन्द्रों जैसे मृत केन्द्र, शिशु केन्द्र, वृद्धाश्रम की स्थापना एवं देखभाल करना ।
8. खतरनाक व्यापारों की रोकथाम, खतरनाक जानवरों तथा पागल कुत्तों को मारने का प्रबंध करना ।
9. दुग्ध–शाला की स्थापना एवं प्रबंध करना ।
10. आग बुझाने का प्रबंध करना ।
11. मनोरंजन गृह का प्रबंध करना ।
12. जन्म, मृत्यु का पंजीकरण का प्रबंध करना ।

13. नगर की जनगणना करना ।
14. नये बाजारों का निर्माण करना ।
15. नगर में बस आदि चलवाना
16. श्मशानों तथा कब्रिस्तानों की देखभाल करना
17. गृह उद्योग तथा सहकारी भंडारों की स्थापना करना आदि ।

नगर निगम के आय के प्रमुख साधन—नगर निगम के आय के प्रमुख साधन निम्नलिखित हैं—

1. नगर निगम कई प्रकार के कर लगाता है । जैसे— मकान कर, जलकर, शौचालय कर, पशुओं पर कर, छोटे वाहनों पर कर आदि ।
2. बिहार सरकार द्वारा समय–समय पर दिया गया आर्थिक अनुदान ।

प्रश्नावली

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Question)

I. सही विकल्प चुनें ।

1. संघ राज्य की विशेषता नहीं है
   (क) लिखित संविधान (ख) शक्तियों का विभाजन
   (ग) इकहरी शासन-व्यवस्था (घ) सर्वोच्च न्यायपालिका
2. संघ सरकार का उदाहरण है
   (क) अमेरिका (ख) चीन
   (ग) ब्रिटेन (घ) इनमें से कोई नहीं
3. भारत में संघ एवं राज्यों के बीच अधिकारों का विभाजन कितनी सूचियों में हुआ है
   (क) संघीय सूची, राज्य सूची
   (ख) संघीय सूची, राज्य सूची, समवर्ती सूची

II. निम्नलिखित में से कौन-सा कथन सही है ।

1. सत्ता में साझेदारी सही है क्योंकि
   (क) यह विविधता को अपने में समेट लेती है
   (ख) देश की एकता को कमजोर करती है
   (ग) फैसले लेने में देरी कराती है
   (घ) विभिन्न समुदायों के बीच टकराव कम करती है
2. संघवाद लोकतंत्र के अनुकूल है ।
   (क) संघीय व्यवस्था केन्द्र सरकार की शक्ति को सीमित करती है ।
   (ख) संघवाद इस बात की व्यवस्था करता है कि उस शासन-व्यवस्था के अंतर्गत रहनेवाले लोगों में आपसी सौाहार्द एवं विश्वास रहेगा । उन्हें इस बात का भय नहीं रहेगा कि एक की भाषा, संस्कृति और धर्म दूसरे पर लाद दी जाएगी।

III. नीचे स्थानीय स्वशासन के पक्ष में कुछ तर्क दिये गये हैं, इन्हें आप वरीयता के क्रम से सजाएँ ।

1. सरकार स्थानीय लोगों को शामिल कर अपनी योजनाएँ कम खर्च में पूरी कर सकती है?
2. स्थानीय लोग अपने इलाके की जरूरत, समस्याओं और प्राथमिकताओं को जानते हैं ।
3. आम जनता के लिए अपने प्रदेश के अथवा राष्ट्रीय विधायिका के जनप्रतिनिधियों से संपर्क कर पाना मुश्किल होता है ।
4. स्थानीय जनता द्वारा बनायी योजना सरकारी अधिकारियों द्वारा बतायी योजना में जयादा स्वीकृत होती है ।

अति लघु उत्तीय प्रश्न (Very-Short Answer Questions)

1. संघ राज्य का अर्थ बताएँ ।
2. संघीय शासन की दो विशेषताएँ बताएँ ।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short-Answer Question)

1. सत्ता की साझेदारी से आप क्या समझते हैं ?
2. सत्ता की साझेदारी लोकतंत्र में क्या महत्त्व रखती है ?

3. सत्ता की साझेदारी के अलग-अलग तरीके क्या है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long- Answer Questions)

1. राजनैतिक दल किस तरह से सत्ता में साझेदारी करते हैं ?
2. गठबंधन की सरकारों में सत्ता में साझेदारी कौन-कौन होते हैं ?
3. दवाब समूह किस तरह से सरकार को प्रभावित कर सत्ता में साझेदार बनते हैं ?

निम्नलिखित में से किसी एक कथन का समर्थन करते हुए 50 शब्दों में उत्तर दें ।

- ⇨ हर समाज में सत्ता की साझेदारी की जरूरत होती है, भले ही वह छोटा हो या उसमें सामाजिक विभाजन नहीं हो।
- ⇨ सत्ता की साझेदारी की जरूरत क्षेत्रीय विभाजन वाले बड़े देशों में होती है।
- ⇨ सत्ता की साझेदारी की जरूरत क्षेत्रीय, भाषायी जातीय आधार पर विभाजन वाले समाज में ही होती है ।

*

इकाई- 3

3

लोकतंत्र में प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष

पिछले अध्यायों में इस तथ्य की विवेचना की गई कि लोकतंत्र में सत्ता विभाजन क्यों आवश्यक है ? हमने इसका भी विश्लेषण किया कि इस व्यवस्था में सरकार के भिन्न-भिन्न अंग तथा विभिन्न सामाजिक समूह सत्ता में भागीदारी कैसे करते हैं ? इस अध्याय में हम विवेचना करेंगे कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में सत्ता के शीर्ष बिन्दु पर बैठने वाला व्यक्ति ऐसा स्वतंत्र नहीं है कि वह मनमानी करता रहे । सत्ताधारी किसी भी स्थिति में अपने ऊपर पड़नेवाले प्रभावों एवं दवाबों से अलग नहीं हो सकते । लोकतांत्रिक व्यवस्था एक ऐसी आदर्श व्यवस्था है जिसके अंतर्गत समाज में रहनेवाले विभिन्न व्यक्ति के पारस्परिक हितों में टकराव चलता रहता है । इसलिए लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की विवशता है कि उसे परस्पर विरोधी विभिन्न भागों एवं दवाबों के बीच संतुलन एवं सामंजस्य बनाना पड़ता है । इस अध्याय में हम विश्लेषण करेंगे कि किस प्रकार समाज में रहनेवाले विभिन्न तरह के विचारकों की परस्पर-विरोधी माँगों और दवाबों के बीच लोकतंत्र की जड़ें काफी सुदृढ़ होती हैं । यदि हम यह कहें कि परस्पर-विरोधी माँगों एवं दवाबों के बीच लोकतंत्र फलता-फूलता है तो इससे कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । इस अध्याय में हम तमाम व्यक्तियों और संगठनों द्वारा अख्तियार किए जा रहे तौर-तरीकों का अध्ययन करते हुए यह जानने का प्रयास करेंगे की लोकतांत्रिक व्यवस्था में उनकी सकारात्मक भूमिका का क्या प्रभाव पड़ता है ?

इस अध्याय में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में राजनीतिक दल का क्या महत्त्व है ? इसके बाद राजनीतिक दल का सरल एवं संक्षिप्त परिभाषा जानते हुए लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के प्रमुख कार्यों को भी जानने का प्रयास

करेंगे । साथ ही यह भी जानेंगे कि राजनीतिक दलों में प्रतिस्पर्धा से लोकतंत्र कैसे मजबूत होता है एवं राजनीतिक दलों के बीच प्रतिस्पर्धा राष्ट्रीय विकास में क्या योगदान करता है ? और अंत में भारत के प्रमुख राष्ट्रीय एवं राज्य स्तरीय अर्थात् क्षेत्रीय दलों के बारे में जानेंगे ।

प्रतिस्पर्धा एवं जनसंघर्ष का अर्थ

पूरे विश्व में लोकतंत्र का विकास प्रतिस्पर्धा और जनसंघर्ष के चलते हुआ है । यदि हम यों कहें कि जनसंघर्ष के माध्यम से ही लोकतंत्र का विकास हुआ है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । जब सत्ताधारियों और सत्ता में हिस्सेदारी चाहनेवालों के बीच संघर्ष होता है तब वह लोकतंत्र की निर्णयक घड़ी कहलाती है । ऐसी घड़ी किसी भी लोकतांत्रिक देश में तब आती है जब कोई देश लोकतंत्र के मार्ग पर आगे बढ़ रहा हो और उस देश में लोकतंत्र का विस्तार हो रहा हो । लोकतांत्रिक संघर्ष का समाधान जनता की व्यापक लामबंदी के सहारे संभव है । कभी-कभी भले ही ऐसे संघर्ष का समाधान मौजूदा संस्थाओं जैसे संसद या न्यायपालिका के माध्यम से हो गया हो, लोकतांत्रिक देशों में जन-संघर्ष और प्रतिस्पर्धा का आधार राजनीतिक संगठन होते हैं । जनसंघर्ष में जनता की भागीदारी भले ही स्वत: स्फूर्त हो, लेकिन सार्वजनिक भागीदारी संगठित राजनीति के द्वारा ही संभव है । राजनीतिक दल, दवाब-समूह और आंदोलनकारी समूह संगठित राजनीति के सकारात्मक माध्यम हैं ।

नेपाल और वोलिविया के जनसंघर्षों से स्पष्ट है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में किसी संघर्ष के पीछे अनेक संगठन होते हैं जो दो तरह से लोकतंत्र में अपनी भूमिका निभाते हैं । आमतौर से लोकतंत्र में किसी भी निर्णय को प्रभावित करने का एक जाना-पहचाना तरीका होता है राजनीति में प्रत्यक्ष भागीदारी के लिए राजनीतिक दलों का निर्माण होता है, चुनावों में भाग लिया जाता है और सरकार का निर्माण होता है । लेकिन समाज का प्रत्येक नागरिक इतने प्रत्यक्ष ढंग से लोकतंत्र में भागीदारी नहीं करता है । इसके अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे प्रत्यक्ष राजनीतिक गतिविधियों में भाग नहीं लेने की इच्छा, उसके पास आवश्यक कौशल का अभाव या कोई अन्य

कारण । अत: ऐसे अनेक अप्रत्यक्ष तरीके हैं जिनका सहारा लेकर नागरिक सरकार से अपनी माँग कर सकते हैं । इसके लिए समाज और देश के लोग संगठन बनाकर अपने हितों या नजरिए को बढ़ावा देनेवाली गतिविधियाँ संचालित कर सकते हैं । ऐसा भी होता है कि कभी-कभी लोग बिना संगठन बनाए ही अपनी माँगों के लिए एकजुट होने का निर्णय करते हैं। ऐसे समूहों को जनसंघर्ष या आंदोलन कहा जाता है ।

लोकतंत्र में जनसंघर्ष की भूमिका

लोकतंत्र को मजबूत बनाने एवं उसे और सुदृढ़ करने में जनसंघर्षों की अहम् भूमिका होती है । जब 15 अगस्त 1947 को ब्रिटिश दासता से मुक्त होकर भारत ने 26 जनवरी 1950 को अपने गणतांत्रिक संविधान को अंगीकार किया तब से वह लोकतंत्र की आधारशिला दिनों-दिन सुदृढ़ कर रहा है । 19वीं शताब्दी के सातवें दशक के दौरान भारत में अनेक तरह के सामाजिक और जनप्रिय जनसंघर्षों की उत्पत्ति हुई जिसने लोकतंत्र के मार्ग को प्रशस्त किया । भारतीय लोकतांत्रिक इतिहास में 1970 का दशक कई दृष्टियों से इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि यह एक ऐसा दशक था जिसमें भारतीय लोकतंत्र के शीर्ष बिन्दु पर पदासीन श्रीमती इंदिरा गाँधी ने 1971 के आम चुनाव में अपने प्रभुत्त्व एवं सामर्थ्य का प्रदर्शन कर काँग्रेस को पुनर्स्थापित किया और श्रीमती गाँधी के नेतृत्व में भारत की सरकार बनीं । उसके बाद श्रीमती गाँधी ने संविधान के बुनियादी ढाँचे में परिवर्तन करने का प्रयास किया । 1975 में उन्होंने देश के अंदर आपातकाल की उद्घोषणा कर जिस ढंग से लोकतंत्र का विश्लेषण किया, उसके विरोध में सरकार विरोधी जनसंघर्ष तेज हुए और ये जनसंघर्ष लोकतंत्र को बड़े पैमाने पर प्रभावित किए । इस तरह के जनसंघर्ष लोकतंत्र विरोधी सरकार को हटाकर लोकतांत्रिक सरकार को स्थापित करने का प्रयास करते हैं, जैसा कि 1977 में केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार की स्थापना हुई । इस तरह हम समझ सकते हैं कि लोकतंत्र में जनसंघर्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है ।

लोकतंत्र जनसंघर्ष के द्वारा विकसित होता है । लोकतंत्र में फैसले आम सहमति से लिए जाते

हैं । यदि सरकार फैसले लेने में जनसाधारण के विचारों को अनदेखी करती है तो ऐसे फैसलों के खिलाफ जनसंघर्ष होता है और सरकार पर दवाब बनाकर आम सहमति से फैसले लेने के लिए मजबूर किया जाता है । इससे विकास में आनेवाली बाधाएँ दूर हो जाती हैं ।

जनसंघर्ष सरकार को तानाशाह होने एवं मनमाना निर्णय से रोकते हैं क्योंकि लोकतंत्र में संघर्ष होना आम बात होती है । इन संघर्षों का समाधान जनता व्यापक लामबंदी के जरीए करती है । कभी–कभी इस तरह के संघर्षों का समाधान संसद या न्यायपालिका जैसे संस्थाओं द्वारा भी होता है, जिससे सरकार को हमेशा जनसंघर्ष का भय बना रहता है और सरकार तानाशाह होने एवं मनमाना निर्णय से बचती है ।

जनसंघर्ष से राजनीतिक संगठनों आदि का विकास होता है । ये राजनीतिक संगठन जन भागीदारी के द्वारा जन समस्याओं को सुलझाने में सहायक होते हैं । ये राजनीतिक संगठन राजनीतिक दल, दवाब समूह और आंदोलनकारी समूह के रूप में जाने जाते हैं ।

इस तरह हम समझ सकते हैं कि लोकतंत्र में जनसंघर्ष की अहम् भूमिका होती है । देश तथा अपने राज्य में एवं अन्य पड़ोसी देशों में अनेक ऐसे जनसंघर्ष हुए हैं जो लोकतंत्र को व्यापक रूप से प्रभावित किए हैं । आइये, इन जनसंघर्षों को संक्षिप्त रूप से समझें ।

बिहार का छात्र आंदोलन

1971 के आम चुनाव में सत्तारूढ़ काँग्रेस ने 'गरीबी हटाओ' का नारा देकर लोकसभा में बहुमत प्राप्त कर केन्द्र में सरकार का निर्माण किया था । लेकिन 1971–72 के बाद के वर्षों में देश की सामाजिक–आर्थिक दशा में कोई सुधार नहीं हुआ । बांग्लादेश से आये शरणार्थियों के चलते अर्थव्यवस्था और लड़खड़ा गयी । अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी बांग्लादेश की स्थापना के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारत को हर तरह की सहायता पर पाबंदी लगा दिया । अंतरराष्ट्रीय बाजार में तेल की कीमतों में अप्रत्याशित वृद्धि ने भारत की आर्थिक स्थिति को असंतुलित कर

दिया । 1972–73 में मॉनसून की असफलता के चलते पूरे देश में कृषि की पैदावार में काफी कमी आयी । परिणामस्वरूप, पूरे देश में असंतोष का माहौल था । मार्च 1974 में प्रदेश में बेरोजगारी और भ्रष्टाचार एवं खाद्यान्न की कमी और कीमतों में हुई अप्रत्याशित वृद्धि के चलते बिहार के छात्रों ने सरकार के विरूद्ध आंदोलन छेड़ दिया । बिहार के छात्रों ने अपने आंदोलन की अगुआई के लिए **जयप्रकाश नारायण** को आमंत्रित किया । जयप्रकाश नारायण ने छात्रों का निमंत्रण इस शर्त पर स्वीकार किया कि आंदोलन अहिंसक रहेगा जो बिहार तक अपने को सीमित नहीं रखेगा। इस दृष्टि से बिहार के छात्र–आन्दोलन ने एक राजनीतिक स्वरूप ग्रहण किया। **जयप्रकाश नारायण** के निवेदन पर जीवन के हर क्षेत्र से संबंधित लोग आंदोलन में कूद पड़े । **जयप्रकाश नारायण** ने बिहार की काँग्रेस सरकार को बर्खास्त करने की माँग कर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में *'संपूर्ण क्रांति'* का आह्वान किया । **जयप्रकाश नारायण** की *'संपूर्ण क्रांति'* का उद्देश्य भारत में सच्चे लोकतंत्र की स्थापना करना था ।

बिहार सरकार के विरूद्ध सरकार की इस्तीफा के लिए घेराव, हड़ताल और संघर्ष का सिलसिला प्रारंभ हुआ । इसके बावजूद सरकार ने इस्तीफा नहीं दिया । **जयप्रकाश नारायण** की इच्छा थी कि बिहार का यह आंदोलन देश के अन्य भागों में भी फैले । उल्लेखनीय है कि जब बिहार में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में आंदोलन चल रहे थे तो उसी समय रेलवे कर्मचारियों ने भी केन्द्रीय सरकार के विरूद्ध एक राष्ट्रव्यापी हड़ताल का आह्वान किया । उस हड़ताल का व्यापक प्रभाव पड़ा । **जयप्रकाश नारायण** ने 1975 में दिल्ली में आयोजित संसद मार्च का नेतृत्व किया । राजधानी दिल्ली में अब तक इतनी बड़ी रैली का आयोजन कभी नहीं हुआ था । इस प्रकार, गुजरात और बिहार दोनों राज्यों के आन्दोलनों को काँग्रेस–विरोधी आंदोलन माना गया । **इंदिरा गाँधी** की मान्यता थी कि ये आंदोलन उनके प्रति व्यक्तिगत विरोध से प्रेरित थे ।

12 जून 1975 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने एक ऐतिहासिक निर्णय देकर इंदिरा गाँधी के निर्वाचन को अवैधानिक करार दिया । इस निर्णय के बाद यह स्पष्ट हो गया कि कानूनन इंदिरा गाँधी सांसद नहीं रहीं । इस प्रकार, एक बड़े राजनैतिक संघर्ष के लिए अब मैदान तैयार

हो चुका था । **जयप्रकाश नारायण** के नेतृत्व में विपक्षी दलों ने इंदिरा गाँधी के इस्तिफे के लिए दबाव डालना प्रारंभ किया । दिल्ली के रामलीला मैदान में एक विशाल प्रदर्शन कर **जयप्रकाश नारायण** ने इंदिरा गाँधी से इस्तीफा की माँग करते हुए राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह की घोषणा की । उन्होंने अपने आह्वान में सेना और पुलिस तथा सरकारी कर्मचारियों को भी सरकार का आदेश नहीं मानने के लिए निवेदन किया । इंदिरा गाँधी ने इस आंदोलन को अपने विरूद्ध एक षड्यंत्र मानते हुए 25 जून 1975 के आपातकाल की उद्घोषणा करते हुए **जयप्रकाश नारायण** सहित प्राय: सभी राजनीतिक दलों के नेताओं को जेल में डाल दिया ।

सरकार ने निवारक नजरबंदी का भी बड़े पैमाने पर दुरूपयोग करना शुरू किया । निवारक नजरबंदी अधिनियमों के अंतर्गत राजनीतिक कार्यकर्त्ता अपनी को गिरफ्तारियों की चुनौती न्यायालयों में नहीं दे सकते थे ।

1975 के आपातकाल के दौरान सरकार द्वारा इतनी ज्यादतियाँ की गईं जिनका उदाहरण लोकतांत्रिक देशों में नहीं मिलता । आपातकाल ने भारतीय लोकतंत्र की कमजोरियों को उजागर कर दिया । सही अर्थ में आपातकाल के दौरान भारत लोकतांत्रिक नहीं रह गया था ।

जैसे ही आपातकाल की अवधि समाप्त हुई, लोकसभा के चुनावों की घोषणा कर दी गई। सही अर्थ में 1977 का लोकसभा चुनाव एक तरह से आपातकाल के अनुभवों के संबंध में जनमत-संग्रह था । 18 महीने के आपातकाल के बाद जनवरी 1977 में निर्वाचन की घोषणा होते ही सभी राजनीतिक नेताओं और कार्यकर्त्ताओं को जेलों से रिहा कर दिया गया । 1977 के चुनाव के ऐन मौके पर विपक्षी दलों ने **जनता पार्टी** नाम से जिस राजनीतिक दल का गठन किया था, उसे लोकसभा में अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई । उल्लेखनीय है कि 1977 में लोकसभा के लिए हुए निर्वाचनों में जनता पार्टी और उसके साथी दलों को लोकसभा की कुल 542 सीटों में से 330 सीटें मिली थीं । इंदिरा गाँधी स्वयं रायबरेली और उनके पुत्र संजय गाँधी अमेठी से चुनाव में पराजित हो गये ।

अभी तक इस संबंध में लिखी गई उपरोक्त बातों से क्या आपको एहसास नहीं होता कि लोकतंत्र में जनसंघर्षों एवं आंदोलनों का एक ऐसा स्थान है, जिन्हें लोकतांत्रिक सरकारें अनेदेखाा

नहीं कर सकतीं । 1977 में भारतीय लोकतंत्र में जनता पार्टी की सरकार का गठन और इंदिरा गाँधी की पराजय ने अन्य देशों की तुलना में भारतीय लोकतंत्र की प्रक्रिया को काफी मजबूत कर दिया । 1977 के दशक के बाद भारतीय संविधान में उद्घोषित उद्देश्यों के क्रियान्वयन तथा अपने अधिकारों और दावों की पूर्ति हेतु प्रदेश में जनसंघर्ष छोटे-बड़े आंदोलनों के रूप में सरकार को सचेत करते रहे हैं ।

1977 में **जनता पार्टी** सरकार का गठन और उसकी समाप्ति का भी प्रभाव भारतीय लोकतंत्र पर पड़ा । 1980 में पुनः इंदिरा गाँधी का देश का प्रधानमंत्री बनना भारतीय लोकतंत्र की कार्यशैली का बढ़िया उदाहरण कहा जा सकता है ।

भारतीय लोकतंत्र में क्षेत्रीय आकांक्षाओं की राजनीतिक अभिव्यक्ति की अनुमति प्राप्त है । लोकतांत्रिक राजनीति में देश के विभिन्न राजनीतिक दल और समूह क्षेत्रीय पहचान, आकांक्षा या किसी विशेष क्षेत्रीय समस्याओं के द्वारा सरकार पर दबाव डालते हैं । जम्मू-कश्मीर के लोगों की आकांक्षाएँ, नागालैंड और मिजोरम जैसे पूर्वोत्तर राज्यों में भारत से अलग होने संबंधी आंदोलन तथा दक्षिण भारत में द्रविड़ आंदोलनों के अतिरिक्त भाषा के आधार पर भी राज्यों के गठन की माँग के लिए जन-आंदोलन हुए । उदाहरण के लिए तमिलनाडु में हिन्दी को **राजभाषा** बनाने के विरूद्ध आंदोलन चलाया गया । इसी प्रकार, पंजाबी भाषी लोगों ने अपने लिए जब एक अलग राज्य बनाने की माँग की तो उसे स्वीकार कर **पंजाब** और **हरियाणा** नाम से राज्य बनाये गए । बाद में छत्तीसगढ़, झारखण्ड एवं उत्तराखंड का गठन भी क्षेत्रीय माँगों के अनुरूप हुआ। अब हम भारत के विभिन्न प्रदेशों एवं क्षेत्रों में हुए उन आंदोलनों का वर्णन करेंगे जिसने जनसंघर्ष का रास्ता अख्तियार कर सरकार का ध्यान जन समस्याओं और उनके निराकरण के लिए किया। संक्षेप में ऐसे प्रमुख आंदोलन निम्नलिखित हैं-

चिपको आंदोलन

इस आंदोलन का प्रारंभ उत्तराखंड के दो-तीन गाँवों से हुआ । गाँववालों ने वन विभाग से निवेदन किया कि खेती-बाड़ी के औजार बनाने के लिए उन्हें अंगू के पेड़ काटने की अनुमति दी

जाए । वन विभाग ने गाँववालों को पेड़ काटने की अनुमति नहीं देकर खेल–सामग्री के निर्माताओं को जमीन का वह टुकड़ा व्यवसाय प्रयोग के लिए आवंटित कर दिया । वन विभाग की इस काररवाई से गाँववाले काफी दुःखी हुए और उन्होंने सरकार के इस निर्णय का जबर्दस्त विरोध किया । गाँववालों का यह विरोध शीघ्र ही उत्तराखंड के अन्य क्षेत्रों में भी फैल गया । परिणामस्वरूप, क्षेत्र की परिस्थितिकी और आर्थिक शोषण से जुड़े अन्य सवाल उठने लगे । गाँववालों ने सरकार से यह माँग की कि जंगल की कटाई का कोई भी ठेका बाहरी व्यक्तियों को नहीं दिया जाना चाहिए । उनकी स्पष्ट माँग थी कि स्थानीय निवासियों का जल, जंगल, जमीन जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर एममात्र नियंत्रण होना चाहिए । इस आंदोलन ने स्थानीय भूमिहीन वन–कर्मचारियों का आर्थिक मुद्दा उठाकर उनके लिए न्यूनतम मजदूरी की गारंटी की माँग की ।

उल्लेखनीय है कि चिपको आंदोलन में महिलाओं ने सक्रिय भूमिका निभाई । महिलाओं की भूमिका इसलिए भी महत्त्वपूर्ण थी कि जंगल कटाई के ठेकेदार स्थानीय पुरुषों को शराब की आपूर्ति का भी व्यवसाय करते थे । गाँव के अधिकांश घरों के पुरुषों के शराबी हो जाने के दुष्परिणाम घर की आर्थिक स्थिति पर पड़ी । परिणामस्वरूप, महिलाओं ने शराबखोरी की लत के विरुद्ध आवाज उठाकर चिपको आंदोलन का दायरा और विस्तृत कर दिया । अन्य सामाजिक मसले भी इस आंदोलन से जुड़ गए । अंततः इस आंदोलन को सफलता मिली और सरकार ने 15 वर्षों के लिए हिमालीय क्षेत्र में पेड़ों की कटाई पर रोक लगा दी । यह आंदोलन 1970 के दशक और उसके बाद के कुछ वर्षों में देश के विभिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न विभिन्न जन आंदोलनों का प्रतीक बन गया ।

1970 और 1980 के दशक में देश के अंदर समाज के अनेक तबको को राजनीतिक दलों की कार्यशैली से मोह भंग हुआ । इसका तात्कालिक कारण 1977 में **जनता पार्टी** के रूप में गैर काँग्रेसवाद का प्रयोग भारतीय राजनीति में दूरदर्शी प्रभाव नहीं दिखा सका । परिणामस्वरूप, भारतीय समाज के विभिन्न समूहों के बीच उनके साथ हो रही अन्याय के चलते भारतीय

लोकतांत्रिक व्यवस्था से उनका असंतोष बढ़ता गया । इसके चलते देशांतर्गत सक्रिय कई राजनीतिक समूहों का विश्वास भारत की लोकतांत्रिक और चुनावी व्यवस्था से उठता गया । ऐसे विभिन्न समूह दलगत राजनीति से अलग होकर अपने आंदोजन को और व्यापक करने के लिए आवाम को लामबंद करने और इस प्रकार राजनीतिक दलों से स्वतंत्र आंदोलनों की शुरूआत हुई।

दलित पैंथर्स

दलित पैंथर्स महाराष्ट्र के दलितों के सामाजिक आर्थिक बदलावों से संबन्धित हैं । डॉ० अंबेदकर ने हिन्दू जाति व्यवस्था के ढाँचे से बाहर दलितों को समाज में एक गरिमापूर्ण स्थान दिलाने का अथक प्रयास किया । इस समुदाय ने भारतीय समाज में लंबे अरसे तक क्रुरतापूर्ण जातिगत अन्याय को सहन किया है । 1970 के दशक के प्रारंभ में भारतीय समाज के शिक्षित दलितों की प्रथम पीढ़ी ने विभिन्न मंचों से भारतीय संविधान में सन्निहित अपने अधिकारों एवं हकों की आवाज उठायी । शिक्षित दलितों की इस पीढ़ी में ज्यादातर शहर की झुग्गी-बस्तियों में पलकर बड़े हुए दलित थे । इसी क्रम में महाराष्ट्र में दलित हितों की दावेदारी के लिए 1972 में दलित युवाओं का एक संगठन बना जिसे 'दलित पैंथर्स' कहा गया । भारतीय संविधान में छुआछूत की प्रथा की समाप्ति के बावजूद भारतीय समाज से छुआछूत समाप्त नहीं हुआ । 1960 एवं 70 के दशक में सरकार द्वारा इस संबंध में बनाए गए विभिन्न अधिनियमों के बावजूद दलितों के साथ सामाजिक भेदभाव तथा हिंसा का वर्त्ताव जारी रहा । दलित महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार तो होते ही थे, जातिगत प्रतिष्ठा की छोटी-मोटी बातों को लेकर दलितों को काफी परेशान भी किया जाता था । दलितों पर हो रहे सामाजिक एवं आर्थिक उत्पीड़न को रोक पाने में सरकार द्वारा निर्मित कानून बेअसर हो रहे थे । दूसरी तरफ **रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया** जैसे राजनीतिक दलों को दलित समर्थन कर रहे थे, लेकिन ऐसे दल चुनावी राजनीति में सफल नहीं हो रहे थे । ये सब कारण थे जिनके चलते **दलित पैंथर्स** ने दलित अधिकारों की दावेदारी करते हुए जनकाररवाई का रास्ता अख्तियार किया ।

महाराष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों में दलितों पर बढ़ रहे अत्याचारों से लड़ना **दलित पैंथर्स** की मुख्य

जिम्मेवारी थी । इसने दलितों पर हो रहे अत्याचारों के मुद्दे पर लगातार विरोध आंदोलन चलाया। परिणामस्वरूप, 1989 में सरकार द्वारा एक व्यापक कानून के अंतर्गत दलितों पर अत्याचार करनेवालों पर कठोर दंड का प्रावधान किया गया । बाद में, **दलित पैंथर्स** के वृहद् विचाराधरात्मक कार्यक्रम अपनाए, जैसे– जाति–प्रथा उन्मूलन, भूमिहीन गरीब किसानों की समस्याओं का निराकरण तथा शहरों के औद्योगिक मजदूरों और दलितों की प्रतिदिन हो रहे शोषण की समाप्ति आदि । दलित पैंथर्स द्वारा चलाए गए इस आंदोलन से पढ़े लिखे भारतीय दलित युवकों को एक ऐसा मंच प्राप्त हुआ जहाँ वे सृजनशीलता का उपयोग प्रतिरोध की आवाज बनाकर कर सकते थे ।

भारतीय किसान यूनियन

1980 के दशक के उत्तरार्द्ध में भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के प्रयास हुए, जिसके चलते नगदी फसल को बाजार के संकट का सामना करना पड़ा । उल्लेखनीय है कि हरित क्रांति की नीति के अन्तर्गत 1960 के अंतिम वर्षों से हरियाणा, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसानों को काफी आर्थिक लाभ हुआ था । इसके बाद के वर्षों में इन इलाकों में गन्ना और गेहूँ मुख्य नकदी फसल बन गए थे । **भारतीय किसान यूनियन** ने गन्ने और गेहूँ के सरकारी खरीद मूल्य में बढ़ोत्तरी करने, कृषि से संबंधित उत्पादों के अंतरराज्यीय आवाजाही पर लगी पाबंदियों को समाप्त करने, समुचित दर पर गारंटी युक्त बिजली आपूर्ति करने, किसानों के बकाये कर्ज माफ करने तथा किसानों के लिए पेंशन योजना का प्रावधान करने की माँग की । ये ऐसी माँगे थीं जिन्हें देश के अन्य किसान संगठनों ने भी उठायी । महाराष्ट्र के 'शेतकारी संगठन' ने किसानों द्वारा संचालित आंदोलनों को शहरी औद्योगिक क्षेत्र के विरूद्ध ग्रामीण कृषि क्षेत्र का संग्राम घोषित कर दिया ।

भारतीय किसान यूनियन के प्रमुख **महेन्द्र सिंह टिकैत** एवं इसके राष्ट्रीय समायोजन समिति के संयोजक **एम0 युद्दी वीर सिंह** थे, जिन्होंने यह चेतावनी दी कि यदि भारत ने कृषि को विश्व व्यापार संगठन के दायरे से बाहर रखने के लिए आवश्यक कदम नहीं उठाया तो देश को इसके आर्थिक–सामाजिक परिणाम भुगतने होंगे।

सरकार से अपनी माँगे मनवाने के लिए **भारतीय किसान यूनियन** ने रैली, धरना, प्रदर्शन और जेल भरो अभियान जैसे कार्यक्रमों का सहारा लिया । इन कार्यक्रमों में पश्चिमी उत्तर प्रदेश और उसके आसपास के क्षेत्र के हजारो हजार किसानों ने भाग लेकर भारतीय राजीनति में एक दबाव समूह की भूमिका निभायी । 1980 जनवरी में उत्तर प्रदेश के मेरठ शहर में बिजली की दर में की गई बढ़ोत्तरी का विरोध करनेवाले लगभग 20 हजार किसानों ने अपनी गतिविधियों से आर्थिक मसलों पर सरकार को घेरने का प्रयास किया।

ताड़ी–विरोधी आन्दोलन

दक्षिण राज्य आंध्र प्रदेश में ताड़ी विरोधी आंदोलन वहाँ की महिलाओं का स्वत: स्फूर्त आंदोलन था । इस आंदोलन के जरिए महिलाएँ अपने आस–पड़ोस में मदिरा की विक्री पर पाबंदी की माँग कर रही थीं । वर्ष 1992 के सितंबर–अक्टूबर माह में वहाँ की ग्रामीण महिलाएँ शराब के विरूद्ध आंदोलन छेड़कर अपनी ग्रामीण अर्थव्यवस्था में सुधार लाना चाहती थीं । उल्लेखनीय है कि आंध्र प्रदेश में **नेल्लौर** जिले के एक दूर–दराज गाँव **दुबरगंटा** (Dubarganta) में 1990 के प्रारंभ में महिलाओं के बीच प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम चलाया गया । इस कार्यक्रम में उस गाँव की महिलाएँ बड़ी संख्या में पंजीकरण कराकर कक्षाओं में अपने घर के पुरुषों पर देशी शराब ताड़ी आदि पीने की शिकायतें करती थीं, क्योंकि ग्रामीण पुरुषों को शराब की लत लग चुकी थी जिसके चलते वे शारीरिक और मानसिक रूप से कमजोर होकर घर गृहस्थी के कामों में सहयोग नहीं करते थे । इससे सबसे अधिक परेशानी महिलाओं को इसलिए हो रही थी कि इससे परिवार की अर्थव्यवस्था चरमराने लगी । परिणामस्वरूप, उस जिले के अन्य गाँवों की महिलाएँ ताड़ी बिक्री के विरुद्ध आगे बढ़कर शराब की दूकानों को बंद करने के लिए सरकार पर दबाव डालने लगीं । इस जिले की महिलाओं में आयी ऐसी जागरूकता की खबर पूरे प्रदेश में तेजी से फैली जिसके चलते करीब 5000 गाँवों की महिलाओं ने ताड़ी विरोधी आन्दोलन में भाग लेकर ताड़ी पर प्रतिबंध संबंधी एक प्रस्ताव संबंधित जिले के जिलाधिकारी को भेज दिया। इस प्रकार, **नेल्लौर** जिले का यह आन्दोलन पूरे सूबे में फैल गया ।

बाद में ताड़ी विरोधी यह आंदोलन महिला आन्दोलन का एक हिस्सा बन गया जिसका नारा था– ''ताड़ी की बिक्री बंद करो।'' इस साधारण नारे ने पूरे प्रदेश में सिर्फ महिलाओं के जीवन को ही प्रभावित नहीं किया वरन् इसने व्यापक सामाजिक, आर्थिक और राजनीति मुद्दों को देश के सामने रखकर लोकतांत्रिक सरकार की कार्यशैली पर भी प्रश्न चिह्न लगाया। बाद में महिलाओं द्वारा संचालित यह ताड़ी विरोधी आंदोलन कानूनी सुधारों से हटकर सामाजिक टकराव के मुद्दों पर भी खुलेतौर पर विरोध करने लगा। यही कारण था कि 1990 के दशक के दौरान महिला आंदोलन ने समान राजनीतिक प्रतिनिधित्व की बात कर अपने लिए स्थानीय निकायों में अपना प्रतिनिधित्व सुनिश्चित कराया। संविधान का 73वें एवं 74वें संशोधन अधिनियमों द्वारा स्थानीय राजनीतिक निकायों में उन्हें प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ।

नर्मदा बचाओ आंदोलन

जहाँ चिपको आंदोलन के द्वारा पर्यावरणीय मुद्दों के संरक्षण पर बल दिया गया वहाँ नर्मदा बचाओ आंदोलन ने कृषि क्षेत्र की सरकार द्वारा अनदेखी पर अपना गहरा रोष प्रकट किया। उल्लेखनीय है कि 1980 के बाद आठवें दशक के प्रारंभ में मध्यभारत के नर्मदा घाटी के विकास परियोजनाओं के तहत गुजरात, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश से गुजरनेवाली नर्मदा और उसकी सहायक नदियों पर 30 बड़े बाँध 135 मंझोले बाँध तथा 300 छोटे बाँध बनाने का सरकार द्वारा प्रस्ताव रखा गया। यहाँ उल्लेखनीय है कि प्रस्तावित बाँधों के निर्माण से संबंधित राज्यों के 245 गाँवों को डुबने की आशंका बढ़ गई। परिणामस्वरूप, प्रभावित गाँवों के करीब ढाई लाख लोगों के पुनर्वास का मुद्दा स्थानीय कार्यकर्त्ताओं ने उठाकर सरकार के विरूद्ध आंदोलन खड़ा किया। 1988–89 के दौरान विभिन्न स्वयंसेवी संगठनों ने स्वयं को नर्मदा आंदोलन के रूप में गठित कर एक बड़े जन संघर्ष का उदाहरण प्रस्तुत किया। आंदोलन के प्रारंभ में आंदोलनकारियों द्वारा यह माँग की गई थी कि प्रस्तावित परियोजना से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित सभी नागरिकों का समुचित पुनर्वास होना चाहिए। इस आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि इसने लोकतांत्रिक पहलूओं को गाँवों तक पहुँचाया, क्योंकि 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' ने इस बात पर बल दिया कि ऐसी परियोजनाओं की निर्णय–प्रक्रिया में स्थानीय समुदायों की भागीदारी से जल,

जंगल, जमीन जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर उनका नियंत्रण स्थापित हो सकेगा ।

इस आन्दोलन ने यह भी सवाल उठाया कि लोकतंत्र में कुछ सीमित लोगों के लाभ के लिए अन्य लोगों का नुकसान नहीं होना चाहिए । बाद में इस आंदोलन ने बड़े बाँधों के निर्माण का खुला विरोध करना प्रारंभ किया । 2003 में स्वीकृत राष्ट्रीय पुनर्वास नीति को यदि हम नर्मदा बचाओ जैसे सामाजिक आंदोलनों की उपलब्धि कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

सूचना के अधिकार का आंदोलन

सूचना के अधिकार का आंदोलन जन आंदोलनों की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण कहा जा सकता है । इस आंदोलन नें सरकार से एक बड़ी माँग को पूरा कराने में सफलता पाई है । राजस्थान के एक छोटे गाँव से इस संबंध में निकली चिनगारी ने व्यापक रूप धारण करना शुरू कर दिया । 1994 और उसके बाद 1996 में जन सुनवाई का आयोजन किया गया । आंदोलन के दबाव में सरकार को राजस्थान पंचायती राज अधि नियम में संशोधन कर जनता को पंचायत के दस्तावेजों की प्रभावित प्रतिलिपि प्राप्त करने की अनुमति दी । 1996 में सूचना के अधिकार को लेकर दिल्ली में राष्ट्रीय समिति का गठन किया गया । 2002 में 'सूचना की स्वतंत्रता' नामक एक विधेयक पारित हुआ, लेकिन अनेक त्रुटियों के चलते उसे अमल में नहीं लाया गया। 2004 में सूचना के अधिकार संबंधी विधेयक को भारतीय संसद में उपस्थित किया गया जिसने जून 2005 में राष्ट्रपति की स्वीकृति पाकर अधिनियम का रूप धारण किया ।

सूचना के अधिकार की शुरूआत – 1990 में राजस्थान के एक अति पिछड़े क्षेत्र **भीम तहसील** में सर्वप्रथम उठायी गई । उसके अंतर्गत ग्रामीणों में प्रशासन से अपने वेतन एवं भुगतान के बिल उपलब्ध कराने को कहा । ग्रामीणों को लग रहा था कि उन्हं दी गई मजदूरी में भारी घपला हो रहा है ।

पड़ोसी देशों में जनसंघर्ष एवं आंदोलन

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है । भारतीय लोकतंत्र के आंतरिक द्वंद्व, संघर्ष

एवं आंदोलनों का उल्लेख किया जा चुका है । भारत का लोकतंत्र और भी अधिक सुदृढ़ होगा जब इसके पड़ोसी देशों में लोकतांत्रिक प्रक्रिया चलती रहेगी । उदाहरण के लिए सर्वप्रथम हम नेपाल को ले सकते हैं ।

नेपाल में लोकतांत्रिक आंदोलन– नेपाल के लोकतांत्रिक आंदोलन का उद्देश्य राजा को अपने आदेशों को वापस लेने के लिए विवश करना था । वे ऐसे आदेश थे जिनके द्वारा राजा ने वहाँ के लोकतंत्र को समाप्त कर दिया था । उल्लेखनीय है कि नेपाल में लोकतंत्र 1990 के दशक में कायम हुआ । वहाँ का राजा औपचारिक रूप से राज्य का प्रधान तो बना रहा लेकिन वास्तविक सत्ता का प्रयोग जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा होता रहा । ऐसे संवैधानिक राजतंत्र को राजा **वीरेन्द्र** ने पहले ही स्वीकार कर लिया था । उनकी हत्या के बाद राजा **ज्ञानेन्द्र** लोकतांत्रिक शासन को स्वीकारने की स्थिति में नहीं थे । 2005 में राजा **ज्ञानेन्द्र** ने तत्कालीन प्रधानमंत्री को अपदस्थ ही नहीं किया वरन् जनता द्वारा निर्वाचित सरकार को भी भंग कर दिया । परिणामस्वरूप, अप्रैल 2006 में वहाँ जो आंदोलन खड़ा हुआ, उसका एकमात्र उद्देश्य शासन की बागडोर राजा के हाथ से लेकर जनता के हाथ में सौंपना था ।

नेपाल में लोकतंत्र की स्थापना के लिए वहाँ की संसद के सभी बड़े राजनीतिक दलों ने एक गठबंधन बनाया जिसे हम 'सप्तदलीय गठबंधन' (Seven party alliance) के नाम से जानते हैं । इस गठबंधन ने नेपाल की राजधानी काठमांडू में 4 दिन के बंद का जो आह्वान किया उसका व्यापक प्रभाव नेपाल के लोगों पर पड़ा । करीब 1 लाख लोग प्रतिदिन एकजुट होकर लोकतंत्र की बहाली की माँग कर रहे थे । 23 अप्रैल 2006 के दिन नेपाल में आंदोलनकारियों की संख्या करीब 5 लाख पहुँच गयी । 24 अप्रैल 2006 को राजा **ज्ञानेंद्र** ने सर्वदलीय सरकार और एक नयी संविधान सभा के गठन की बात स्वीकार कर ली । गठबंधन ने **गिरिजा प्रसाद कोईराला** को अंतरिम सरकार का प्रधानमंत्री चुना । पुन: संसद बहाल हुई जिसने अपनी प्रथम बैठक में अनेक कानून पारित कर राजा के अधिकांश शक्तियों पर पाबंदी लगा दी । उल्लेखनीय है कि नेपाल के लोगों द्वारा लोकतंत्र बहाली के लिए किए गए संघर्ष पूरे विश्व के लिए एक प्रेरणा का स्रोत है ।

बोलिबिया में जन-संघर्ष– बोलिबिया के लोगों ने पानी के निजीकरण के विरूद्ध एक सफल

संघर्ष का प्रारंभ किया । बोलिबिया लैटिन अमेरिका का एक गरीब देश है । **विश्व बैंक** ने जब वहाँ की सरकार पर नगरपालिका द्वारा की जा रही जलापूर्ति से अपना नियंत्रण छोड़ने के लिए दबाव डाला तब सरकार ने **कोचबंबा** शहर में जलापूर्ति का अधिकार एक बहुराष्ट्रीय कंपनी को सौंप दिया जिसने पानी की कीमत में चार गुणा वृद्धि कर दी । वहाँ के घरेलू खपत में पानी का मासिक व्यय 1000 रुपये तक जा पहुँचा । परिणामस्वरूप, वहाँ सरकार के विरुद्ध स्वत: स्फूर्त जनसंघर्ष प्रारम्भ हो गया । सरकार और वहाँ के श्रमिकों, मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं तथा सामुदायिक नेताओं के बीच अनेक बार संघर्ष हुए । जनता के विरुद्ध **मार्शल लॉ** का भी इस्तेमाल किया गया । लेकिन, अंतत: जनता की माँग के आगे सरकार को झुकना पड़ा और बहुराष्ट्रीय कंपनियों को शहर छोड़ कर भागना पड़ा । सरकार को आंदोलनकारियों की सारी बातें माननी पड़ीं।

बांग्लादेश में लोकतंत्र के लिए संघर्ष– 1971 में बांग्लादेश के निर्माण के बाद उसने अपने देश का संविधान बनाकर अपने को धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक तथा समाजवादी देश घोषित कर दिया । 1975 में **शेख मुजीबुरर्हमान** ने वहाँ के संविधान में संशोधन लाकर संसदीय शासन के स्थान पर अध्यक्षीय शासन–प्रणाली को मान्यता दिलायी तथा वहाँ **अवामी लीग** पार्टी को छोड़कर अन्य सभी राजनीतिक दलों को समाप्त कर दिया गया । परिणामस्वरूप, उनके विरुद्ध जबर्दस्त तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई । अगस्त 1975 में सेना ने उनके विरुद्ध बगावत कर दी और वे मारे गए । तब से लेकर दिसंबर 2008 तक वहाँ लोकतंत्र की बहाली संबंधी जनसंघर्ष एवं आंदोलन चलते रहे । 29 दिसंबर, 2008 को बांग्लादेश में आम चुनाव हुए । पूर्व प्रधानमंत्री **शेख हसीना** और उनकी पार्टी **अवामी लीग** के नेतृत्त्व वाले गठबंधन को संसदीय चुनाव में ऐतिहासिक सफलता मिली और वहाँ अब लोकतंत्र की हसीन सुबह का खुशनुमा एहसास लोग करने लगे हैं ।

श्रीलंका में लोकतंत्र के लिए संघर्ष– भारत के दक्षिण में अवस्थित **श्रीलंका** दक्षिण एशिया का एक प्रमुख राष्ट्र है । 1948 में इसकी स्वतंत्रता से लेकर अब तक वहाँ लोकतंत्र स्थापित है। फिर भी, श्रीलंका एक गंभीर जातीय समस्या का शिकार बना हुआ है । वहाँ कि तमिल आबादी

ने अलग राजय की माँग कर गंभीर जातीय संघर्ष का रूप ग्रहण कर लिया है। श्रीलंका के तमिलों के प्रति सरकार की उपेक्षापूर्ण बर्ताव एवं तिरस्कार में जातीय संघर्ष का मार्ग प्रशस्त किया।

राजनीतिक दल का अर्थ

अब हम लोकतंत्र के व्यावहारिक पक्षों का अध्ययन करेंगे । लोकतंत्र के व्यावहारिक पक्ष में राजनीतिक दलों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । राजनीतिक दल सरकार के संचालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । अब हम राजनीतिक दल के बारे में विस्तार से समझेंगे ।

सामान्यतया राजनीति दल का आशय ऐसे व्यक्तियों के किसी भी समूह से है जो एक समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करता है । यदि उस दल का उद्देश्य राजनीतिक कार्य–कलापों से संबंधित होता है तो उसे हम राजनीतिक दल कहते हैं । किसी भी राजनीतिक दल में व्यक्ति एक समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक जुट होते हैं, जैसे मतदान करना, चुनाव लड़ना, नीतियाँ एवं कार्यक्रम तय करना आदि । उल्लेखनीय है कि किसी समान उद्देश्य पर लोगों के अलग–अलग विचार हो सकते हैं, लेकिन जहाँ तक राजनीतिक दल का प्रश्न है उसके सदस्यों का एक समान उद्देश्य पर एक जैसा विचार होता है । साथ ही, किसी एक राजनीहतिक दल के सदस्य समाज के अन्य लोगों को यह समझाने का प्रयास करते हैं कि उनके सामान्य उद्देश्य दूसरे लोगों के उद्देश्यों से बेहतर हैं । इस संदर्भ में हमें एक और बात समझ लेना आवश्यक है कि व्यक्तियों का समूह जब एक राजनीतिक दल के रूप में संगठित होता है तो उनका उद्देश्य सिर्फ **'सत्ता प्राप्त करना'** या **'सत्ता को प्रभावित करना'** होता है । इसके लिए सभी राजनीतिक दल अपनी–अपनी नीतियों और कार्यक्रमों को तैयार करते हैं ।

भारत में दलीय व्यवस्था की शुरूआत **1885** में **भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना** से मानी जाती है । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में अनेक राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय राजनीतिक दल अस्तित्व में आये । यहाँ हमलोगों को यह जान लेना आवश्यक है कि विश्व में सर्वप्रथम राजनीतिक दलों की उत्पत्ति ब्रिटेन में हुई । यहाँ 1688 ई० में हुए **गौरवपूर्ण क्रांति** के बाद **ह्विग** (Whig) और **टोरी** (Tory) नामक दो राजनीतिक दलों की नींव पड़ी जो बाद में

ह्विग उदारदल एवं **टोरी अनुदार दल** के नाम से जाना गया । संयुक्त राज्य अमेरिका में संविधान निर्माण के बाद राजनीतिक दलों की उत्पत्ति हुई ।

राजनीतिक दलों के कार्य

लोकतांत्रिक देशों में राजनीतिक दल जीवन के एक अंग बन चुके हैं । इसीलिए उन्हें **'लोकतंत्र का प्राण'** (Life blood of democracy) कहा गया है । लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली में राजनीतिक दलों के निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं–

1. नीतियाँ एवं कार्यक्रम तय करना– राजनीतिक दल जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए नीतियाँ एवं कार्यक्रम तैयार करते हैं । इन्हीं नीतियों और कार्यक्रमों के आधार पर ये चुनाव भी लड़ते हैं । राजनीतिक दल भाषण, टेलीविजन, रेडियो, समाचार-पत्र आदि के माध्यम से अपनी नीतियाँ एवं कार्यक्रम जनता के सामने रखते हैं और मतदाताअें को अपनी ओर आकर्षित करने की कोशिश करते हैं । मतदाता भी उसी राजनीतिक दल को अपना समर्थन देते हैं जिसकी नीतियाँ एवं कार्यक्रम जनता के कलयाण के लिए एवं राष्ट्रीय हित को मजबूत करनेवाला होता है ।

2. शासन का संचालन– राजनीतिक दल चुनावों में बहुमत प्राप्त करके सरकार का निर्माण करते हैं । जिस राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त नहीं होता है वे विपक्ष में बैठते हैं जिन्हें विपक्षी दल कहा जाता है । जहाँ एक ओर सत्ता पक्ष शासन का संचालन करता है वही विपक्षी दल सरकार पर नियंत्रण रखता है और सरकार को गड़बड़ियाँ करने से रोकता है ।

3. चुनावों का संचालन– जिस प्रकार लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था में राजनीतिक दलों का होना आवश्यक है, उसी प्रकार दलीय व्यवस्था में चुनाव का होना भी आवश्यक है । हमें पहले से यह जानकारी प्राप्त है कि सभी राजनीतिक दल अपनी विचारधाराओं और सिद्धांतों के अनुसार कार्यक्रमों एवं नीतियाँ तय करते हैं । यही कार्यक्रम एवं नीतियाँ चुनाव के दौरान जनता के पास रखते हैं जिसे **चुनाव घोषणा-पत्र** कहते हैं । राजनीतिक दल अपने उम्मीदवारों को खड़ा करने और हर तरीके से उन्हें चुनाव जीताने का प्रयत्न करते हैं । इसीलिए, राजनीतिक दल का एक प्रमुख कार्य चुनावों का संचालन भी है ।

4. लोकमत का निर्माण– लोकतंत्र में जनता की सहमति या समर्थन से ही सत्ता प्राप्त होती है । इसके लिए शासन की नीतियों पर लोकमत प्राप्त करना होता है और इस तरह के लोकमत का निर्माण राजनीतिक दल के द्वारा ही हो सकता है । राजनीतिक दल लोकमत निर्माण करने के लिए जनसभाएँ, रैलियों, समाचारपत्र, रेडियो, टेलीविजन आदि का सहारा लेते हैं।

5. सरकार एवं जनता के बीच मध्यस्थ का कार्य– राजनीति दलों का एक प्रमुख कार्य है जनता और सरकार के बीच मध्यस्थता करना । राजनीतिक दल ही जनता की समस्याओं और आवश्यकताओं को सरकार के सामने रखते हैं और सरकार की कल्याणकारी योजनाओं और कार्यक्रमों को जनता तक पहुँचाते हैं । इस तरह राजनीतिक दल सरकार एवं जनता के बीच पूल–निर्माण का कार्य करते हैं ।

6. राजनीतिक प्रशिक्षण– राजनीतिक दल मतदाताओं को राजनीतिक प्रशिक्षण देने का भी काम करते हैं । राजनीतिक दल खासकर चुनावों के समय अपने समर्थकों को राजनैतिक कार्य जैसे– मतदान करना, चुनाव लड़ना, सरकार की नीतियों की आलोचना करना या समर्थन करना आदि बताते हैं । इसके अलावा, सभी राजनीतिक दल अपनी राजनीतिक एवं शैक्षिक गतिविधि याँ तेजकर उदासीन मतदाताओं को अपने से जोड़ने का भी काम करते हैं जिससे लोगों में राजनीतिक चेतना की जागृति होती है ।

7. दलीय कार्य– प्रत्येक राजनीतिक दल कुछ दल संबंधी कार्य भी करते हैं, जैसे– अधि क से अधिक मतदाताओं को अपने दल का सदस्य बनाना, अपनी नीतियाँ एवं कार्यक्रम का प्रचार–प्रसार करना तथा दल के लिए चंदा इकट्ठा करना आदि ।

8. गैर–राजनीतिक कार्य– राजनीतिक दल न केवल राजनैतिक कार्य करते हैं बल्कि गैर–राजनीतिक कार्य भी करते हैं, जैसे प्राकृतिक आपदाओं– बाढ़, सुखाड़ भूकंप आदि के दौरान राहत संबंधी कार्य आदि ।

लोकतंत्र में राजतनीतिक दलों की आवश्यकता क्यों ?

अब तक हमने यह समझा कि राजनीतिक दल लोकतांत्रिक शासन–व्यवस्था में काफी

महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं । जनता की विभिन्न समस्याओं के समाधान में राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । अब हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि आधुनिक लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की क्यों आवश्यकता हुई ? क्या राजनीतिक दलों के अभाव में भी लोकतांत्रिक शासन–व्यवस्था सफल ढंग से चल सकती है ? दरअसल राजनीतिक दल को **'लोकतंत्र का प्राण'** कहा जाता है । इसीलिए लोकतांत्रिक शासन–व्यवस्था में राजनीतिक दलों की आवश्यकता को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता । किसी भी शासन–व्यवस्था में किसी भी समस्या पर हजारों लोग अपना विचार रखते हैं । किन्तु, इन विचारों और दृष्टिकोणों का कोई मतलब नहीं रह जाता है जब तक इन विचारों को किसी दल के विचारों से न जोड़ा जाए । राजनीतिक दल देश के लोगों की भावनाओं एवं विचारों को जोड़ने का काम करते हैं । इस दृष्टि से हमारे लिए राजनीतिक दलों की आवश्यकता है । इसके अलावा, लोकतंत्र में राजनीतिक दल की आवश्यकता इसलिए भी है कि यदि दल नहीं होगा तो सभी उम्मीदवार निर्दलीय होंगे । उम्मीदवार अपनी नीतियाँ राष्ट्रहीत में न बनाकर उस क्षेत्र विशेष के लिए बनाएँगे जिन क्षेत्रों से वे चुनाव लड़ रहे हैं । ऐसी स्थिति होने से देश की एकता और अखंडता खतरे में पड़ जाएगी और देश का विकास रुक जाएगा । इस समस्या से बचने के लिए राजनीतिक दलों का होना आवश्यक है । राजनीतिक दलों की नीतियाँ एवं कार्यक्रम समग्र एवं व्यापक होता है न कि किसी क्षेत्र विशेष के लिए । राजनीतिक दल के सदस्य सभी जाति, धर्म, क्षेत्र एवं लिंग के होते हैं । इसके चलते राजनीतिक दल सभी लोगों की समस्याओं को समेटकर सरकार के सामने रखते हैं और उनके समाधान का प्रयास करते हैं । इस तरह हम कह सकते हैं कि लोकतंत्र में राजनीतिक दलों का होना आवश्यक है।

राजनीतिक दलों के बीच प्रतियोगिता एवं लोकमत के सशक्तिकरण पर इनके प्रभाव

दुनिया में दलीय व्यवस्था के तीन रूप प्रचलित है । (i) एकदलीय व्यवस्था, (ii) द्विदलीय व्यवस्था और (iii) बहुदलीय व्यवस्था । इन तीनों प्रकार के दलीय व्यवस्थाओं में द्विदलीय एवं बहुदलीय व्यवस्था में राजनीतिक दलों के बीच प्रतियोगिता होती रहती है । सामान्यतः लोगों में

यह धारणा प्रचलित है कि लोकतंत्र में दलों के बीच प्रतियोगिता अच्छी बात होती है । दलों के बीच प्रतियोगिता का मुख्य कारण सत्ता की प्राप्ति होता है । सभी दलों का भी अंतिम उद्देश्य 'सत्ता की प्राप्ति' होता है । इसके लिए सभी राजनीतिक दल ज्यादा-से-ज्यादा लोगों का समर्थन प्राप्त करना चाहते हैं । राजनीतिक दलों के बीच प्रतियोगिता होने से मतदाताओं के पास राजनीतिक दलों को समर्थन एवं विरोध का विकल्प खुला रहता है । इसीलिए राजनीतिक दलों के बीच स्वस्थ प्रतियोगिता लोकतंत्र के लिए अच्छी बात मानी जाती है ।

हमलोगों को पता है कि राजनीतिक दल **'लोकतंत्र का प्राण है'** । राजनीतिक दलों को लोकतंत्र का आधार स्तम्भ भी माना जाता है । इसीलिए हम यह भी मान सकते हैं कि राजनीतिक दलों के बीच प्रतियोगिता होने से लोकतंत्र मजबूत होता है । राजनीतिक दलों में प्रतियोगिता होने से सभी दल राष्ट्र एवं जनता के लिए एक से बढ़कर एक कलयाणकारी कार्यक्रम एवं नीतियाँ बनाते हैं । सभी दल जनता की समस्याओं को जोरदार ढंग से उठाते हैं और इन समस्याओं को जल्द-से-जल्द समाधान करने का प्रयत्न करते हैं । राजनीतिक दलों के बीच डर बना रहता है कि यदि जनता की इच्छाओं, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुसार वे काम नहीं करेंगे तो जनता का समर्थन उन्हें प्राप्त नहीं होगा और वे अपने अंतिम उद्देश्य जो सत्ता की प्राप्ति है, उसमें सफल नहीं हो पायेंगे । जिस दल की सरकार बनती है वह दल अपनी योजनाओं से जनता को लाभान्वित करना चाहता है क्योंकि जनता के पास विकल्प होते हैं वह दूसरे राजनीतिक दलों की सरकार भी बना सकती है । अत: हम कह सकते हैं कि राजनीतिक दलों में प्रतियोगिता होने से लोकतंत्र और मजबूत होता है ।

राजनीतिक दलों का राष्ट्रीय विकास में योगदान

किसी भी देश का विकास वहाँ के राजनीतिक दलों की स्थिति पर निर्भर करता है । जिस देश में राजनीतिक दलों के विचार, सिद्धांत एवं दृष्टिकोण ज्यादा व्यापक होंगे उस देश का राष्ट्रीय विकास उतना ही ज्यादा होगा । इसीलिए कहा जाता है कि किसी भी देश के राष्ट्रीय विकास में राजनीतिक दलों की मुख्य भूमिका होती है । दरअसल राष्ट्रीय विकास के लिए जनता को

जागरूक, समाज एवं राज्य में एकता एवं राजनीतिक स्थायित्व का होना आवश्यक है । इन सभी कार्यों में राजनीतिक दल ही मुख्य भूमिका निभाते हैं । लोकतांत्रिक देशों में साधारणत: यह देखने को मिलता है कि मात्र नागरिक को जिस कार्य के बदले जितना मिलता है उसी में वह संतुष्ट रहता है । उससे जयादा पाने की इच्छा उसमें कम रहती है । इसका मुख्य कारण जनजागरूकता का अभाव रहता है । ऐसी स्थिति में राजनीतिक दल ही नागरिकों को अपने अधिकारों के प्रति सजग रहने के लिए प्रेरित करते हैं ।

राष्ट्रीय विकास के लिए राज्य एवं समाज में एकता स्थापित होना आवश्यक है । इसके लिए राजनीतिक दल एक महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में काम करता है । राजनीतिक दलों में विभिन्न जातियों, धर्मों, वर्गों एवं लिंगों के सदस्य होते हैं । ये सभी अपने-अपने जाति, धर्म, वर्ग एवं लिंग का प्रतिनिधित्व भी करते हैं । ये प्रतिनिधि किसी तरह के विवाद उत्पन्न होने पर तुरंत समाधान कर लेते हैं जिससे राज्य में एकता कायम रहती है । राष्ट्रीय विकास की एक प्रमुख शर्त राजनीतिक स्थायित्व भी है । राजनीतिक दल ही किसी देश में राजनीतिक स्थायित्व ला सकते हैं । इसके लिए आवश्यक है कि राजनीतिक दल सरकार के विरोध की जगह उसकी रचनात्मक आलोचना करें । राष्ट्रीय विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि शासन के निर्णयों में सबकी सहमति और सभी लोगों की भागीदारी हो । इस प्रकार के काम भी राजनीतिक दल ही करते हैं। राजनीतिक दल संकट के समय रचनात्मक कार्य भी करते हैं, जैसे प्राकृतिक आपदा के दौरान राहत का कार्य आदि । राष्ट्रीय विकास के लिए सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार की नीतियाँ एवं कार्यक्रम तैयार किये जाते हैं । लोकतांत्रिक देशों में इस तरह की नीतियों एवं कार्यक्रम को विधानमंडल से पास होना आवश्यक होता है । सत्ता पक्ष एवं विपक्ष के सहयोग से विधानमंडल ऐसे नीतियाँ एवं कार्यक्रम पास कराने में सहयोग करते हैं । इन्हीं सब बातों के आधार पर हम समझ सकते हैं कि राजनीतिक दल राष्ट्रीय विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं ।

राजनीतिक दलों के लिए प्रमुख चुनौतियाँ

हमलोग जानते हैं कि लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था में शासन का संचालन किसी-न-किसी राजनीतिक दल द्वारा किया जाता है । हम यह भी जानते हैं कि जिस शासन-व्यवस्था में जनता

की इच्छा, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को पूरा नहीं किया जाता है, या शासन–व्यवस्था में किसी तरह की गड़बड़ियाँ होती हैं तो इसकी सारी जिम्मेवारी राजनीतिक दलों पर ही होती है और यह आरोप लगाया जाता है कि राजनीतिक दल ठीक ढंग से काम नहीं कर रहे हैं । सही अर्थ में राजनीतिक दलों के सामने कुछ चुनौतियाँ हैं जो उन्हें अपने उद्देश्यों में सफल नहीं होने देतीं। ये चुनौतियाँ निम्नलिखित हैं–

1. आंतरिक लोकतंत्र की कमी– लोकतांत्रिक देशों के राजनीतिक दलों के सभी अधिकार एक व्यक्ति में या कुछ व्यक्तियों के समूह में सिमट गए हैं । दलों के अंदर लिए जाने वाले निर्णयों में दलों के सभी सदस्यों से सहमति नहीं ली जाती है । दलों के विभिन्न पदों पर दल के ही प्रमुख नेताओं एवं उनके सगे–संबंधियों का कब्जा होता है । इसके लिए चुनाव भी समय पर नहीं होते हैं । दलों के भीतर लिए गए फैसलों की जानकारी भी सभी लोगों को नहीं हो पाती है । भारत जैसे देश में राजनीतिक दलों के अंदर लोकतांत्रिक व्यवस्था का अभाव है जो उनके लिए गंभीर चुनौती है ।

2. नेतृत्व का संकट– प्राय: भारत के सभी राजनीतिक दलों में नेतृत्व का संकट है । सही अर्थ में आज अधिाकांश राजनीतिक दलों में कोई ऐसा नेता नहीं है जो सर्वमान्य हो और वह दल को सही दिशा दे सके। इसके अलावा, राजनीतिक दलों में युवा एवं महिला नेतृत्व का भी अभाव देखा गया है । देश की युवा पीढ़ी नौकरी, व्यापार और व्यवसाय के पीछे भाग रही है । युवाओं को राजनीति में अपना भविश्य सुरक्षित नहीं लगता है । फलत: राजनीतिक दलों में नेतृत्व का संकट हो गया है ।

3. वंशवाद– प्राय: सभी राजनीतिक दलों के नेताओं को यह देखा जा रहा है कि लोग दलों के शीर्ष पर बैठे हैं और वे अनुचित लाभ लेते हुए अपने सगे–संबंधियों, दोस्तों और रिश्तेदारों को दल के प्रमुख पदों पर बैठाते हैं । सामान्य कार्यकर्त्ता को दलों में ऊपर के पदों पर बैठने की गुंजाइश काफी कम रहती है । भारत में काँग्रेस सहित अन्य राजनीतिक आदि दलों पर वंशवाद का आरोप लगते रहे हैं । अत: वंशवाद की समाप्ति राजनीतिक दलों के सामने प्रमुख चुनौती है।

4. कालेधन एवं अपराधियों का प्रभाव– आज राजनीतिक दलों में काले धन एवं अपराधियों के बढ़ते प्रभाव के चलते महत्त्वपूर्ण चुनौतियाँ हैं । हमें पता है कि आज चुनाव लड़ने में काफी रुपया–पैसा खर्च होते हैं । फलस्वरूप, ये राजनीतिक दल जायज एवं नाजायज तरीका अपनाने से परहेज नहीं करते हैं । चुनाव में पूँजीपतियों को उम्मीदवार के रूप में उतारा जाता है जो चुनावों में अपने काले धन का प्रयोग करते हैं । इसके अलावा, राजनीतिक दलों को चुनाव के समय पूँजीपतियों से काफी रुपए सहयोग के रूप में मिलता है जो एक तरह से काला धन ही होता है । ये पूँजीपति चुनाव के बाद राजनीतिक दलों से अनुचित लाभ लेते हैं ।

आजकल राजनीतिक दलों में अपराधियों का भी प्रभाव बढ़ा है । सभी राजनीतिक दल चुनाव के समय अपराधियों से मदद लेते हैं और चुनाव जीतने के बाद अपराधा वृद्धि में उनकी मदद करते हैं ।

5. सिद्धांतहीनता की स्थिति– राजनीतिक दलों में आजकल सिद्धांतहीनता की स्थिति बनी हुई है । कोई भी दल अपने मूल सिद्धांत पर कायम नहीं है और सत्ता को प्राप्त करने के लिए वे अपने सिद्धांतों को भी छोड़ दे रहे हैं, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों के राजनीतिक दल अपने गठन के समय से लेकर अभी तक अपने मूल सिद्धांत पर कायम हैं ।

6. अवसरवादी गठबंधन– भारत जैसे बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था वाले देशों में गठबंधन की राजनीति की परंपरा कायम हुई है, क्योंकि किसी भी दल को सरकार बनाने के लिए आवश्यक बहुमत नहीं मिल पा रहा है । इसीलिए राजनीतिक दल चुनाव के पहले और चुनाव के बाद ऐसे दलों से गठबंधन करते हैं । इन दलों के सिद्धांतों एवं विचारों में काफी भिन्नता होती है । कभी–कभी ऐसा भी होता है कि बहुत से दल एक दूसरे के विरोध में चुनाव लड़ते हैं और चुनाव के बाद सरकार निर्माण के समय ये आपस में गठबंधन कर लेते हैं । इस तरह के गठबंधन अवसरवादिता का परिचायक है । उदाहरणस्वरूप 2004 में लोकसभा के आम चुनाव में काँग्रेस ने दलों के सहयोग से सरकार बनायी । इस तरह के गठबंधन से राजनीतिक दलों में अनुशासनहीनता आती है और लोकतंत्र के लिए भी यह शुभ नहीं है ।

राजनीतिक दलों को प्रभावशाली बनाने के उपाय

हमने अभी तक यह समझा कि राजनीतिक दलों के सामने अनेक चुनौतियाँ हैं । अब हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि राजनीतिक दलों को उपर्युक्त चुनौतियों से सामना करने के लिए दलों को प्रभावी कैसे बनाया जा सकता है ? अगर राजनीतिक दल इन चुनौतियों का सामना नहीं कर पायेंगे तो लोकतांत्रिक व्यवस्था अपने उद्देश्यों में असफल होकर चरमरा जाएगी । अतः राजनीतिक दलों को प्रभावशाली बनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए गए हैं जो हैं–

1. दलबदल कानून लागू होना चाहिए– विधायकों और सांसदों के दलबदल को रोकने के लिए संविधान में संशोधन लाकर कानून बनाया गया है । इन कानूनों को पूर्णरूप से बिना किसी लाभ के लागू होना चाहिए ।

2. उच्च न्यायालय के आदेश का पालन होना चाहिए– उच्चतम न्यायालय ने राजनीतिक दलों के काले धन का दुरुपयोग एवं इसके अंदर अपराधियों के बढ़ते वर्चस्व को रोकने के लिए एक आदेश जारी किया है कि चुनाव लड़नेवाले सभी उम्मीदवार अपनी सम्पत्ति का और अपने खिलाफ चल रहे अपराधिक मामलों का ब्योरा चुनाव अधिकारी को दें । न्यायालय ने ऐसे उम्मीदवारों को चुनाव लड़ने से रोक लगा दिया जिनपर गंभीर किस्म के अपराध का आरोप लगा हो और उनपर मुकदमा चल रहा हो । अतः न्यायालय के ऐसे आदेशों को लागू होने से राजनीतिक दलों में अपराधियों की संख्या में कमी होगी और राजनीतिक दल प्रभावशाली होंगे ।

3. राजनीतिक दलों में आंतरिक लोकतंत्र बहाल होना चाहिए– राजनीतिक दलों को प्रभावी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सभी राजनीतिक दल अपने–अपने संविधान का पालन करें, समय–समय पर सांगठनिक चुनाव हो और दल के सभी सदस्यों को विभिन्न पदों पर बैठने का समान अवसर मिले ।

4. राजनीतिक दल महिलाओं और युवाओं को उचित प्रतिनिधित्व देकर अपने प्रभाव में वृद्धि कर सकते हैं । युवाओं को राजनीतिक दलों में आने से दलों को नई ऊर्जा एवं दिशा मिलेगी।

5. राजनीतिक दलों को प्रभावी बनाने के लिए एक सुझाव यह भी दिया जा सकता है कि चुनाव का खर्च सरकार द्वारा उठाया जाए । पेट्रोल, कागज एवं कपड़ा, टेलीफोन आदि जो चुनाव में उपयोग होते हैं, सरकार द्वारा उपलब्ध कराया जाए ।

यदि राजनीतिक दल एवं सरकार इन सुझावों पर ध्यान दें तो राजनीतिके दलों को प्रभावी बनाया जा सकता है । इसके अलावा, राजनीतिक दलों को प्रभावी बनाने के लिए स्वयं पहल करनी चाहिए । विपक्ष की भूमिका निभाकर और सरकार को रचनात्मक सहयोग देकर स्वयं को प्रभावी बनाया जा सकता है ।

भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों का परिचय

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के दो स्वरूप देखने को मिलते हैं– एक वैसे सामाजिक दल हैं जिनका अस्तित्व पूरे देश में होता है । इनके कार्यक्रम एवं नीतियाँ राष्ट्रीय स्तर के होते हैं । इनकी इकाइयाँ राज्य स्तर पर भी होती हैं । इन्हें **राष्ट्रीय राजनीतिक दल** कहते हैं । दूसरा, वैसे राजनीतिक दल जिनके कार्यक्रम, नीतियाँ एवं विचारधारा किसी राज्य या क्षेत्र विशेष तक ही सीमित होते हैं । ऐसे दल को आमतौर पर **राज्य स्तरीय** या **क्षेत्रीय दल** भी कहा जाता है ं। कौन राजनीतिक दल राष्ट्रीय राजनीतिक दल हैं और कौन राज्य स्तरीय, इसका निध ारिण निर्वाचन आयोग ही करता है । राजनीतिक दलों के चुनाव–चिह्न का निर्धारण भी चुनाव आयोग करता है ।

राष्ट्रीय राजनीतिक दल की मान्यता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक दलों को लोकसभा या विधानसभा के चुनावों में 4 या अधिक राज्यों द्वारा कुल डाले गए वैध मतों का 6 प्रतिशत प्राप्त करने के साथ किसी राज्य या राज्य से लोकसभा की कम–से–कम 4 सीटों पर विजयी होना आवश्यक है या लोकसभा में कम–से–कम 4 सीटों पर विजयी होना आवश्यक है या लोकसभा में कम–से–कम 2 प्रतिशत सीटें अर्थात् 11 सीटें जीतना आवश्यक है जो कम–से–कम तीन राज्यों से होनी चाहिए । इसी तरह राज्य स्तरीय राजनीतिक दल की मान्यता प्राप्त करने के लिए उस दल को लोकसभा या विधान सभा के चुनावों में डाले गए वैध मतों का कम–से–कम 6 प्रतिशत

मत प्राप्त करने के साथ–साथ राज्य विधानसभा की कम–से–कम 3 प्रतिशत सीटें या 3 सीटें जीतना आवश्यक है ।

भारत के राष्ट्रीय एवं क्षेत्रसीय दल

आइए, हम भारत के कुछ प्रमुख राजनीतिक दलों के बारे में जानकारी प्राप्त करें । सर्वप्रथम हम **राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय दलों** के बारे में जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करेंगे ।

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस– भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना 1885 में हुई । काँग्रेस पार्टी में कई बार विभाजन हुआ । अभी इसे **काँग्रेस (ई)** के नाम से भी जाना जाता है । काँग्रेस पार्टी का मुख्य उद्देश्य भारत के लोगों की उन्नति करना तथा शांतिमय और संवैधानिक उपायों से भारत में समाजवादी राज्य कायम करता है जो संसदीय जनतंत्र पर आधारित हो, जिसमें अवसर और राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक अधिकारों की समानता हो तथा जिसका लक्ष्य विश्व बंधुत्व हो ।

काँग्रेस एक धर्म निरपेक्ष पार्टी है । यह विश्व के पुराने राजनीतिक दलों में से एक है । इसने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से 1971 तक और 1980 से 1989 तक देश पर शासन किया । 2004 से संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (UPA) बनाकर यह दल देश पर शासन कर रहा है ।

भारतीय जनता पार्टी– 1980 में **भारतीय जनसंघ** के स्थान पर भारतीय जनता पार्टी का गठन हुआ । भारतीय जनता पार्टी के प्रथम अध्यक्ष **अटल बिहारी वाजपेयी** को बनाया गया । भारतीय जनता पार्टी का मुख्य लक्ष्य भारत की प्राचीन संस्कृति और मूल्यों से प्रेरणा लेकर आधुनिक भारत का निर्माण करना है । भारतीय जनता पार्टी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को बढ़ावा देता है तथा समान नागरिक संहिता को लागू करने के पक्षधर है । यह जम्मू– कश्मीर को विशेष राज्य का दर्जा देने के खिलाफ है । भारतीय जनता पार्टी राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (NDA) बनाकर 1998 में सत्ता में आई और 2004 तक देश पर शासन किया ।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सी0 पी0 आई0)– भारत में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना 1925 ई० में **एस0 ए0 डांगे** के प्रयत्नों से हुई । भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र में आस्था रखती है और सांप्रदायिकता का विरोध करती है । यह संसदीय लोकतंत्र में किसानों, गरीबों एवं मजदूरों के हितों की रक्षा करती है । इस पार्टी का जनाधार मुख्य रूप से

केरल, पं० बंगाल तथा बिहार आदि राज्यों में है । भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी 2004 में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन शामिल होकर केंद्र सरकार को बाहर से समर्थन दिया ।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी–मार्क्सवादी (सी0 पी0 आई0 एम0)– 1964 में साम्यवादी दल में विभाजन हो गया और एक नए दल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) का जन्म हुआ । इसके प्रमुख नेता ज्योति बसु, सोमनाथ चटर्जी, ए० के० गोपालन तथा वी० राममूर्ति हैं ।

यह दल मार्क्स एवं लेनिन के विचारों में आस्था रखते हुए समाजवाद, धर्मनिरपेक्ष एवं लोकतंत्र का समर्थन करता है । इस दल के नेता किसानों और मजदूरों की तानाशाही कायम करना चाहते हैं । इस पार्टी का मानना है कि चुनाव के माध्यम से सामाजिक एवं आर्थिक न्याय का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है । यह दल भी 2004 में केन्द्र में गठित यू० पी० ए० सरकार को बाहर से समर्थन देकर सरकार में शामिल हुआ ।

बहुजन समाज पार्टी (बसपा)– बहुजन समाज पार्टी का जन्म अखिल भारतीय पिछड़ी एवं अल्पसंख्यक समुदाय कम्रचारी महासंघ से हुआ । बसपा की स्थापना 1984 में श्री काशीराम ने किया । इस पार्टी का मुख्य विचारधारा दलितों, पिछडों और अहल्पसंख्यकों को एकजुट कर सत्ता प्राप्त करने का प्रयास करना है । इसका जन्म स्थल उत्तर प्रदेश रहा है, इसलिए इसका मुख्य आधार उत्तर प्रदेश में ही है । अब इसका जनाधार बढ़कर पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, मध्य प्रदेश एवं बिहार तक हो गया है ।

राष्ट्रीय जनता दल (राजद)– 1997 में जनता दल में विभाजन हो गया और बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री लालू प्रसाद के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनता दल का गठन हुआ । राष्ट्रीय जनता दल समाज में सामाजिक न्याय की स्थापना पर बल देता है। यह दल पीछड़ों, दलितों एवं अल्पसंख्यकों को एकजूट कर सत्ता प्राप्त करने पर बल देता है। राजद संप्रदायवाद एवं साम्राज्यवाद का विरोध करता है और धर्मनिरपेक्षता में विश्वास करता है।

जनता दल यूनाइटेड (जे0 डी0 यू0)– 1999 में **जनता दल** से विभाजन होकर **शरद यादव** के नेतृत्व में **जनता दल** (यूनाइटेड) का गठन हुआ । बाद में **जार्ज फर्णांडीस** के नेतृत्व वाला **समता पार्टी** का **जनता दल** (यूनाइटेड) में विलय हो गया । इस पार्टी का मुख्य उद्देश्य है– समाजवाद

की स्थापना कर सामाजिक समरसत्ता में वृद्धि करना । यह दलितों, पिछड़ों एवं अल्पसंख्यकों का विकास कर सामाजिक न्याय की स्थापना करना चाहता है । यह राज्यों के विशेष अधिकारों की माँग करता है ।

लोक जनशक्ति पार्टी (लोजपा)– वर्ष 2000 में **राम विलास पासवान** के नेतृत्व में लोक जनशक्ति पार्टी का गठन हुआ । इस पार्टी का मुख्य उद्देश्य है– दलितों, पिछड़ों एवं अल्पसंख्यकों का विकास करना । यह पार्टी भी सामाजिक न्याय की स्थापना पर बल देती है । **लोजपा** राज्यों की स्वायत्तता की बात करता है और लघु उद्योग को प्रोत्साहित करने पर बल देता है ताकि युवकों को ज्यादा–से–ज्यादा रोजगार उपलब्ध हो सके ।

समाजवादी पार्टी– **मुलायम सिंह** के नेतृत्व में सन् 1992 में समाजवादी पार्टी का गठन हुआ। यह दल राष्ट्रीय एवं स्वदेशी कंपनियों की स्थापना पर बल देता है और बहुराष्ट्रीय कंपनियों का विरोध करता है । यह दल कृषि के विकास पर विशेष जोर देता है । इसका मुख्य जनाधार उत्तर प्रदेश में है । लेकिन, अब इसका जनाधार बढ़कर बिहार, पंजाब, मध्य प्रदेश आदि तक पहुँच गया है ।

झारखंड मुक्ति मोर्चा (झामुमो)– झारखंड मुक्ति मोर्चा का गठन 1973 ई० में बिहार में हुआ । झारखण्ड राज्य बनाने के बाद इस मोर्चा का मुख्य जनाधार झारखण्ड राजय में है । इसका अस्तित्व उड़ीसा, पं० बंगाल राज्यों में भी देखने को मिलता है ।

प्रश्नावली

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Question)

I. सही विकल्प चुनें ।

1. वर्ष 1975 भारतीय राजनीति में किस लिए जाना जाता है ?
   (क) इस वर्ष आम चुनाव हुए थे
   (ख) श्रीमती इंदिरा गाँधी प्रधानमंत्री बनी थी
   (ग) देश के अंदर आपातकाल लागू हुआ था
   (घ) जनता पार्टी की सरकार बनी थी

2. भारतीय लोकतंत्र में सत्ता के विरुद्ध जन आक्रोश किस दशक से प्रारंभ हुआ ?
   (क) 1960 के दशक से (ख) 1970 के दशक से
   (ग) 1980 के दशक से (घ) 1990 के दशक से
3. बिहार में संपूर्ण क्रांति का नेतृत्व निम्नलिखित में से किसने किया ?
   (क) मोरारजी देशाई (ख) नीतीश कुमार
   (ग) इंदिरा गाँधी (घ) जयप्रकाश नारायण
4. भारत में हुए 1977 में आम चुनाव में किस पार्टी को बहुमत मिला था ?
   (क) काँग्रेस पार्टी को (ख) जनता पार्टी को
   (ग) कम्युनिस्ट पार्टी (घ) किसी पार्टी को भी नहीं
5. 'चिपको आन्दोलन' निम्नलिखित में से किससे संबंधित नहीं है ?
   (क) अंगू के पेड़ काटने की अनुमति से (ख) आर्थिक शोषण से मुक्ति से
   (ग) शराबखोरी के विरुद्ध आवाज से (घ) काँग्रेस पार्टी के विरोध से
6. 'दलित पैंथर्स' के कार्यक्रम निम्नलिखित में से कौन संबंधित नहीं है ?
   (क) जाति प्रथा का उन्मुलन (ख) दलित सेना का गठन
   (ग) भूमिहीन गरीब किसान की उन्नति (घ)औद्योगिक मजदूरों का शोषण से मुक्ति
7. निम्नलिखित में से कौन 'भारतीय किसान यूनियन' के प्रमुख नेता थे ?
   (क) मोरारजी देसाई (ख) जयप्रकाश नारायण
   (ग) महेंदर सिंह टिकैत (घ) चौधरी चरण सिंह
8. 'ताड़ी विरोधी आंदोलन' निम्नलिखित में से किस प्रांत में शुरू किया गया ?
   (क) बिहार (ख) उत्तर प्रदेश
   (ग) आंध्र प्रदेश (घ) तमिलनाडू
9. 'नर्मदा घाटी परियोजना' किन राज्यों से संबंधित है ।
   (क) बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश
   (ख) तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक
   (ग) पं० बंगाल, उत्तर प्रदेश, पंजाब
   (घ) गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश

10. 'सूचना के अधिकार आंदोलन' की शुरूआत कहाँ से हुई ?

(क) राजस्थान (ख) दिल्ली

(ग) तमिलनाडु (घ) बिहार

11. 'सूचना के अधिकार' संबंधी कानून कब बना ?

(क) 2004 में (ख) 2005 में

(ग) 2006 में (घ) 2007 में

12. नेपाल में सप्तदलीय गठबंधन का मुख्य उद्देश्य क्या है ?

(क) राजा को देश छोड़ने पर मजबूर करना

(ख) लोकतंत्र की स्थापना करना

(ग) भारत-नेपाल के बीच संबंधों को और बेहतर बनाना

(घ) सर्वदलीय सरकार की स्थापना करना

13. बोलिविया में जनसंघर्ष का मुख्य कारण थे

(क) पानी की कीमत में वृद्धि

(ख) खाद्यान्न की कीमत में वृद्धि

(ग) पेट्रोल की कीमत में वृद्धि

(घ) जीवन रक्षक दवाओं की कीमत में वृद्धि

14. श्रीलंका कब आजाद हुआ ?

(क) 1947 में (ख) 1948 में

(ग) 1949 में (घ) 1950 में

15. राजनीतिक दल का आशय है–

(क) अफसरों के समूह से (ख) सेनाओं के समूह से

(ग) व्यक्तियों के समूह से (घ) किसानों के समूह से

16. निम्नलिखित में से कौन-सा प्रमुख उद्देश्य प्राय: सभी राजनीति दलों का होता है ?

(क) सत्ता प्राप्त करना (ख) सरकारी पदों को प्राप्त करना

(ग) चुनाव लड़ना (घ) इनमें से कोई नहीं

17. राजनीतिक दलों की नींव सर्वप्रथम किस देश में पड़ी ?
   (क) ब्रिटेन में (ख) भारत में
   (ग) फ्रांस में (घ) संयुक्त राज्य अमेरिका में
18. निम्नलिखित में से किसे लोकतंत्र का प्राण माना जाता है ?
   (क) सरकार को (ख) न्यायपालिका को
   (ग) संविधान को (घ) राजनीतिक दल को
19. निम्नलिखित में से कौन-सा कार्य राजनीतिक दल नहीं करता है ?
   (क) चुनाव लड़ना (ख) सरकार की आलोचना करना
   (ग) प्राकृतिक आपदा में राहत से (घ) अफसरों की बहाली संबंधित कार्य
20. निम्नलिखित में से कौन-सा विचार लोकतंत्र में राजनीतिक दलों से मेल नहीं खाता है ?
   (क) राजनीतिक दल लोगों की भावनाओं एवं विचारों को जोड़कर सरकार के सामने रखता है।
   (ख) राजनीतिक दल देश में एकता और अखंडता स्थापित करने का साधन है ।
   (ग) देश के विकास के लिए सरकारी नीतियों में राजनीतिक दल बाधा उत्पन्न करता है।
   (घ) राजनीति दल विभिन्न वर्गों, जातियों, धर्मों की समस्याएँ सरकार तक पहुँचाता है ।
21. किस देश में बहुदलीय व्यवस्था नहीं है ?
   (क) पाकिस्तान (ख) भारत
   (ग) बांग्लादेश (घ) ब्रिटेन
22. गठबंधन की सरकार बनाने की संभावना किस प्रकार की दलीय व्यवस्था में रहती है ?
   (क) एकदलीय व्यवस्था (ख) द्विदलीय व्यवस्था
   (ग) बहुदलीय व्यवस्था (घ) उपर्युक्त में से किसी में भी नहीं
23. किसी भी देश में राजनीतिक स्थायित्व के लिए निम्नलिखित में से क्या नहीं आवश्यक है?
   (क) सभी दलों द्वारा सरकार को रचनात्मक सहयोग देना
   (ख) किसी भी ढंग से सरकार को अपदस्थ करना
   (ग) निर्णय प्रक्रिया में सरकार द्वारा सबकी सहमति लेना
   (घ) सरकार द्वारा विरोधी दलों को नजरबंद करना

24. निम्नलिखित में से कौन-सी चुनौती राजनीतिक दलों की नहीं है ?
    (क) राजनीतिक दलों के भीतर समय पर सांगठनिक चुनाव नहीं होना
    (ख) राजनीतिक दलों में युवाओं और महिलाओं को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिलना
    (ग) राजनीतिक दलों द्वारा जनता की समस्याओं को सरकार के पास रखना
    (घ) विपरीत सिद्धांत रखनेवाले राजनीतिक दलों से गठबंधन करना

25. दल-बदल कानून निम्नलिखित में से किस पर लागू होता है ?
    (क) सांसदों एवं विधायकों पर (ख) राष्ट्रपति पर
    (ग) उपराष्ट्रपति पर (घ) उपर्युक्त में से सभी पर

26. राजनीतिक दलों की मान्यता और उसका चिह्न किसके द्वारा प्रदान किया जाता है ?
    (क) राष्ट्रपति सचिवालय द्वारा
    (ख) प्रधानमंत्री सचिवालय द्वारा
    (ग) निर्वाचन आयोग द्वारा
    (घ) संसद द्वारा

27. निम्नलिखित में से कौन राष्ट्रीय दल नहीं है ?
    (क) राष्ट्रीय जनता दल (ख) बहुजन समाज पार्टी
    (ग) लोक जनशक्ति पार्टी (घ) भारतीय जनता पार्टी

28. जनता दल (यूनाइटेड) पार्टी का गठन कब हुआ ?
    (क) 1992 में (ख) 1999 में
    (ग) 2000 में (घ) 2004 में

II. (i) **मिलाने करें**–

	सूची I	**सूची I**
1.	समाजपार्टी	लालटेन
2.	राजद	तीर
3.	लोजपा	बंगला
4.	जेडीयू	साइकिल

(ii) **मिलाने करें–**

	सूची I	**सूची I**
1.	काँग्रेस पाटी।	एनडीए
2.	भारतीय जनता पार्टी	क्षेत्रीय पार्टी
3.	कम्यूनिस्ट पार्टी	यू० पी० ए०
4.	झारखंड	क्षेत्रीय दल

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short-Answer Question)

1. बिहार में हुए 'छात्र आंदोलन' के प्रमुख कारण क्या थे ?
2. 'चिपको आंदोलन' का मुख्य उद्देश्य क्या थे ?
3. स्वतंत्र राजनीतिक संगठन कौन होता है ?
4. भारतीय किसान यूनियन की मुख्य माँगे क्या थीं ?
5. सूचना के अधिकार आंदोलन के मुख्य उद्देश्य क्या थे ?
6. राजनीतिक दल की परिभाषा दें ।
7. किस आधार पर आप कह सकते हैं कि राजनीतिक दल जनता एवं सरकार के बीच कड़ी का काम करता है ?
8. दलबदल कानून क्या है ?
9. राष्ट्रीय राजनीतिक दल किसे कहते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long- Answer Questions)

1. जनसंघर्ष से भी लोकतंत्र मजबूत होता है'' । क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? अपने पक्ष में उत्तर दें ।
2. किस आधार पर आप कह सकते हैं कि बिहार से शुरू हुआ 'छात्र आंदोलन' का स्वरूप राष्ट्रीय हो गया ।
3. निम्नलिखित वक्तव्यों को पढ़े और अपने पक्ष में उत्तर दें–

   (क) क्षेत्रीय भावना लोकतंत्र को मजबूत करती है ।

(ख) दबाव समूह स्वार्थी तत्त्वों का समूह है । इसीलिए इसे समाप्त कर देना चाहिए ।

(ग) जनसंघर्ष लोकतंत्र का विरोधी है ।

(घ) भारत में लोकतंत्र के लिए हुए आंदोलनों में महिलाओं की भूमिका नगण्य है ।

4. राजनीतिक दल को 'लोकतंत्र का प्राण' क्यों कहा जाता है ?
5. राजनीतिक दल राष्ट्रीय विकास में किसी प्रकार योगदान करते हैं ।
6. राजनीति दलों के प्रमुख कार्य बताएँ ।
7. राष्ट्रीय एवं राज्य स्तरीय राजनीतिक दलों की मान्यता कौन प्रदान करते हैं और इसके मापदंड क्या हैं ?

*